56/3-4

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

वीर सेवा मंदिर
का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

वर्ष-56, किरण-3-4
जुलाई-दिसम्बर 2003

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन
261/3, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ प्र)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता
प. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की
आजीवन सदस्यता
1100/-

वार्षिक शुल्क
30/

इस अक का मूल्य
10/

सदस्यो व मंदिरो के
लिए नि:शुल्क

प्रकाशक
भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक
मास्टर प्रिन्टर्स-110032

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र है। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि. आर 10591/62)

भक्ति से मुक्ति

भक्ति में आपार शक्ति है। संसार रूपी समुद्र में भटकते हुए, दुःखों से त्रस्त प्राणी इसी शक्ति के द्वारा परमपद-मोक्ष तक को प्राप्त कर लेता है। परन्तु भक्तिमार्ग की प्रेरणा देने वाला निमित्त भी अनिवार्य है। श्री सम्मेद शिखर चालीसा ऐसी ही भक्ति रचना है।

—पद्मचन्द्र शास्त्री

श्री सम्मेद-शिखर चालीसा

।। दोहावली ।।

शाश्वत तीरथराज का, है यह शिखर विशाल।
भक्ति-भाव से मैं रचूँ, चालीसा नत भाल।।

जिन-परमेष्ठी सिद्ध का, मन में करके ध्यान।
करूं शिखर-सम्मेद का, श्रद्धा से गुण-गान।।

कथा शिखर जी की सदा, सुख-संतोष प्रदाय।
नित्य-नियम इस पाठ से, कर्म-बंध कट जाय।।

आए तेरे द्वार पर, लेकर मन में आस।
शरणागत को शरण दो, नत हैं 'शकुन-सुभाष'।।

।। चौपाई ।।

जय सम्मेद शिखर जय गिरिवर, पावन तेरा कण-कण प्रस्तर।।
मुनियों के तप से तुम उज्ज्वल, नत मस्तक हैं देवों के दल।।1।।
जिनराजों की पद-रज पाकर, मुक्तिमार्ग की राह दिखाकर।
धन्य हुए तुम सब के हितकर, इन्द्र प्रणत शत शीश झुकाकर।।2।।

तुम अनादि हो, तुम अनंत हो, तुम दीवाली, तुम बसंत हो।
मोक्ष-मार्ग दर्शाने वाले, जीवन सफल बनाने वाले।।3।।
श्वास-श्वास में भजनावलियाँ, वीतराग भावों की कलियाँ।
खिल जाती हैं तब बयार से, मिलता आतम सुख विचार से।।4।।
नंगे पैरों शुद्ध भाव से, वन्दन करते सभी चाव से।
पुण्यवान पाते हैं दर्शन, छुटें नरक पशु गति से बंधन।।5।।
स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ाते, निज पर की पहचान बनाते।
ध्यान लगाते, कर्म नशाते, वे सब जन ही शिव पद पाते।।6।।
अरिहंतों के शुभ वन्दन से, सिद्ध प्रभू के गुण-गायन से।
ऊंचे शिखरों से अनुप्राणित, क्षेत्रपाल से हो सम्मानित।।7।।
हर युग में चौबिस तीर्थकर, ध्यान-लीन हो इस पर्वत पर।
सब-के-सब वे मोक्ष पधारे, अगणित मुनि-गण पार उतारे।।8।।
काल-दोष से वर्तमान में, आत्मलीन कैवल्य ज्ञान में।
चौबीसी के बीस जिनेश्वर, मुक्त हुए सम्मेद शिखर पर।।9।।
इन्द्रदेव के द्वारा चिन्हित, पद-छापों से टोंकें शोभित।
तप-स्थली है धर्म-ध्यान की, सरिता बहती आत्म-ज्ञान की।।10।।
तेरा संबल जब मिलता है, हर मुरझाया मन खिलता है।
टोंक-टोंक तीर्थकर गाथा, श्रद्धा से झुक जाता माथा।।11।।
प्रथम टोंक गणधर स्वामी की, व्याख्या कर दी जिनवाणी की।
धर्म-भाव संचार हो गया, चिन्तन से उद्धार हो गया।।12।।
ज्ञानकूट जिन-ज्ञान अपरिमित, कुन्थनाथ तीर्थकर पूजित।
श्रद्धा भक्ति विवेक पवन में, मिले शान्ति हर बार नमन में।।13।।
मित्रकूट नमिनाथ शरण में, गुंजित वातावरण भजन में।
नाटक कूट जहां जन जाते, अरहनाथ जी पूजे जाते।।14।।
संबल कूट सदा अभिनंदित, मल्लिनाथ जिनवर हैं वंदित।
मोक्ष गए श्रेयांस जिनेश्वर, संकुल कूट सदा से मनहर।।15।।
सुप्रभ कूट से शिव पद पाकर, वंदित पुष्पदंत जी जिनवर।
मोहन कूट पद्मप्रभु शोभित, होता जन-जन का मन मोहित।।16।।

आगे पूज्य कूट है निरजर, मुनि सुव्रत जी पुजें जहाँ पर।
ललित कूट चन्दा प्रभु पुजते, सब जन पूजन-वन्दन करते।।17।।
विद्युतवर है कूट जहाँ पर, पुजते श्री शीतल जी जिनवर।
कूट स्वयंभू प्रभु अनंत की, वन्दन करते जैन संत भी।।18।।
धवलकूट पर चिन्हित हैं पग, संभव जी को पूजे सब जग।
कर आनन्द कूट पर वन्दन, अभिनन्दन जी का अभिवन्दन।।19।।
धर्मनाथ की कूट सुदत्ता, पुजती है जिसकी गुणवत्ता।
अविचल कूट प्रणत जन सारे, सुमतनाथ पद-चिन्ह पखारे।।20।।
शान्ति कूट की शान्ति सनातन, करते शान्तिनाथ का वन्दन।
कूट प्रभास वाद्य बजते हैं, जहाँ सुपारस जी पुजते हैं।।21।।
कूट सुवीर विमल पद-वन्दन, जय-जय कारा करते सब जन।
अजितनाथ की सिद्ध कूट है, जिनके प्रति श्रद्धा अटूट है।।22।।
स्वर्ण कूट प्रभु पारस पुजते, झाँझर-घंटे अनहद बजते।
पक्षी तन्मय भजन-गान में, तारे गाते आसमान में।।23।।
तुम पृथ्वी के भव्य भाल हो, तीन लोक में बेमिसाल हो।
कट जायें कर्मों के बन्धन, श्री जिनवर का करके पूजन।।24।।
हे! सम्मेद शिखर बलिहारी, मैं गाऊँ जयमाल तिहारी।
अपने आठों कर्म नशाकर, शिव पद पाऊँ संयम धरकर।।25।।
तुमरे गुण जहान गाता है, आसमान भी झुक जाता है।
है यह धरा तुम्हीं से शोभित, तेरा कण-कण है मन मोहित।।26।।
भजन यहाँ गाती हैं टोली, जिनवाणी की बोली, बोली।
तुम कल्याण करत सब जग का, आवागमन मिटे भव-भव का।।27।।
नमन शिखर जी की गरिमा को, जिन वैभव को, जिन महिमा को।
संत-मुनी अरिहंत जिनेश्वर, गए यहीं से मोक्ष-मार्ग पर।।28।।
भक्तों को सुख देने वाले, सब की नैया खेने वाले।
मुझको भी तो राह दिखाओ, भवसागर से पार लगाओ।।29।।
हारे को हिम्मत देते हो, आहत को राहत देते हो।
भूले को तुम राह दिखाते, सब कष्टों को दूर भगाते।।30।।

काम-क्रोध-मद जैसे अवगुण, लोभ-मोह जैसे दुख दारुण।
कितना त्रस्त रहा मैं कातर, पार करा दो यह भव-सागर।।31।।
तुम हो सब के तारण हारे, ज्ञान-हीन सब पापी तारे।
स्वयं तपस्या-लीन अखंडित, सिद्धों की गरिमा से मंडित।।32।।
त्याग-तपस्या के उद्‌बोधक, कर्म-जनित पीड़ा के शोधक।
ज्ञान बिना मैं दृष्टि-हीन-सा, धर्म बिना मैं त्रस्त दीन-सा।।33।।
तुम हो स्वर्ग-मुक्ति के दाता, दीन-दुखी जीवों के त्राता।
मुझे रत्नत्रय मार्ग दिखाओ, जन्म-मरण से मुक्ति दिलाओ।।34।।
पावन पवन तुम्हारी गिरिवर, गुंजित हैं जिनवाणी के स्वर।
अरिहंतों के शब्द मधुर हैं, सुनने को सब जन आतुर हैं।।35।।
तुम कुन्दन, मैं क्षुद्र धूलिकण, तुम गुण-सागर, मैं रीतापन।
पुण्य-धाम तुम, मैं हूँ पापी, कर्म नशा दो धर्म-प्रतापी।।36।।
तेरी धूल लगाकर माथे, सुरगण तेरी गाथा गाते।
वातावरण बदल जाता है, हर आचरण सँभल जाता है।।37।।
तुम में है जिन टोंकों का बल, तुम में धर्म-भावना निर्मल।
दिव्य वायुमंडल जन-हित का, करदे जो उद्धार पतित का।।38।।
मैं अज्ञान-तिमिर में भटका, इच्छुक हूँ भव-सागर तट का।
मुझको सम्यक्-ज्ञान करा दो, मन के सब संत्रास मिटा दो।।39।।
तुम में है जिनवर का तप-बल, मन पर संयम होता हर पल।
नित्य शिखर जी के गुण गाऊँ, मोक्ष-मार्ग पर बढ़ता जाऊँ।।40।।

।। सोरठा ।।

श्रद्धा से, मन लाय
जो यह चालीसा पढ़े।
भव सागर तिर जाय
कर्म-बन्ध से मुक्त हो।।

(इति श्री सम्मेद शिखर चालीसा सम्पूर्ण)

''आदिपुराण में राजनीतिक विचारों की अभिव्यञ्जना''

—श्रीमती मंजु जैन

आदिपुराण जैनागम मे प्रथमानुयोग का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है। यह जिनसेनाचार्य की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमे प्रमुखत· तीर्थकर ऋषभदेव के जीवन चरित्र का वर्णन है। यद्यपि जिनसेनाचार्य इसे महापुराण का रूप देकर अन्य महापुरूषो के जीवन चरित्र का भी वर्णन करना चाहते थे लेकिन ग्रथ के रचनाकाल के बीच मे ही वे देवगति को प्राप्त हुए एवं उनके अधूरे कार्य को आचार्य गुणभद्र ने पूरा किया।

समुद्र के समान इस गभीर रचना का समय 8-9 वी शताब्दी है। इसमे 47 पर्व है जिसमें प्रारम्भ के 42 पर्व तथा तैतालीसवे पर्व के 3 श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं। शेष पर्व व 1620 श्लोक गुणभद्राचार्य द्वारा रचित हैं।

आदिपुराण महापुराण है। स्वय जिनसेनाचार्य के शब्दो मे यह प्राचीनकाल से प्रचलित होने से पुराण है। तीर्थकर आदि महापुरुषो का उपदेश एव कल्याणकारी होने से यह महापुराण है। इसमे धर्म है, मुक्ति का पद है, कविता है एव तीर्थकरो का चरित्र है।

आदिपुराण सस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है। यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मकथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीति शास्त्र है, आचार शास्त्र है तथा युग की आद्य व्यवस्था को बतलाने वाला महान इतिहास है। इसमे लगभग सभी विषयो का प्रतिपादन किया गया है।

आदिपुराण मे भगवत् जिनसेनाचार्य ने राजनीतिक सिद्धातो की सर्वोत्तम व्याख्या की है। सम्राट भरत छ खण्ड की दिग्विजय के पश्चात् आश्रित राजाओं को जिस राजनीति के पालन का उपदेश देते है एव ऋषभदेव सम्राट

भरत के राज्य भार संभालते समय जिस कल्याणकारी राजनीति को समझाते हे और भरत् प्रजा के हित को सर्वोपरि रख शासन करने की शपथ लेते हैं उस आधार पर यदि आज राज्य व्यवस्था कामय हो तो सर्वत्र सुख व शांति छा जाय और दुःख व अशांति के काले मेघ क्षत-विक्षत हो जायें।

आदिपुराण में वर्णित राजनीति अहिंसा पर आधारित है। वहॉ प्रजा का हित ही राज्य का सर्वोपरि लक्ष्य है। भरत व ऋषभदेव ने बताया "स्वय जीवो और दूसरों को भी जीवित रहने दो", "सबके जीवन जैसे सफल बने वैसे परस्पर सहायक बनो।" इस शिक्षा में समष्टि का हित गर्भित था। अतः आदिपुराण की राजनीति का प्रथम व सर्वोपरि उद्देश्य जनहित व प्रजापालन था।

> **"प्रजानां हितकृद्भूत्वा भोग भूमि स्थिति च्युतौ,**
> **नाभिराजस्तादोद्भूतो भेजे कल्पतरू स्थितम्"[1]**
> **"जनहित प्रजानां जीवनोपायमननात्मनवो मताः"[2]**

प्रजा का हित चाहने वाले नाभिराय हुए इसीलिये वे कल्पवृक्ष की स्थिति को प्राप्त हुए अर्थात् वे कल्पवृक्ष के समान प्रजा का हित करने थे। वे प्रजा के जीवन का उपाय जानने से मनु कहलाये।

राजा वृषभदेव ने प्रजा का कल्याण करने वाली आजीविका का उपाय सोचकर, उसे बार-बार आश्वासन दिया कि तुम भयभीत मत होओ।[3]

इस प्रकार जनहित एवं सर्वोदयी भावना शासन-व्यवस्था का सर्वप्रथम लक्ष्य है। इसी कारण से राजा को न्याय प्रिय होना भी बहुत आवश्यक है। राजा अनीति अथवा अन्याय का अवलम्बन न ले इसके लिये वह प्रतिबंधित था। यदि वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है या जनहित से भटक जाता है तो वह धर्मभ्रष्ट एव अन्यायी हो जाता है और राजा कहलाने के अयोग्य हो जाता है।

भरत दिग्विजय करके राजाओं को शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करो। यदि अन्याय में प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्ति का लोप हो जावेगा।"[4]

"इस (न्यायप्रिय) राजवृत्ति का अच्छी तरह से पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोड़कर प्रजा के साथ न्यायमार्ग से बर्ताव करो।"[5] "वह न्याय दो प्रकार का है (1) दुष्टों का निग्रह (2) शिष्ट-पुरूषों का पालन। यही क्षत्रियों का सनातन धर्म है।"[6] "जो राजा धर्म का पालन करता है वह धर्म विजयी होता है जिसने अपनी आत्मा को जीत लिया है एवं न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है वही पृथ्वी को जीत सकता है।"[7] न्यायपूर्वक बर्ताव करने से इस संसार में यश का लाभ होता है। महान वैभव के साथ पृथ्वी की प्राप्ति होती हैं। परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अनुक्रम से वह तीनों लोकों को जीत लेता है।"[8]

"इस प्रकार भरत प्रजापालन की रीतियों के विषय मे राजाओं को बार-बार शिक्षा देते हैं तथा योग व क्षेम का चिन्तवन करते हुए स्वयं भी उसका पालन करते हैं।"[9]

ऋषभदेव पुत्र भरत को कहते हैं, "हे पुत्र! तुझे प्रजापालन करने में न्याय रूप धन से युक्त होना चाहिये अर्थात् तू न्याय को ही धन समझ क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की गई प्रजा सर्व मनोरथो को पूर्ण करने वाली कामधेनु गाय के समान होती है।"[10] "हे पुत्र! तू इसे ही राजवृत तथा राजाओं का कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन कमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना, तीर्थ-स्थान तथा योग्य पात्रों में दान देना।"[11]

"प्रजा का पालन करने के लिये अपनी बुद्धि की रक्षा करनी चाहिये। वृद्ध व अनुभवी पुरूषों की संगति कर, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र के ज्ञान से अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत बनाओ। यदि राजा इसके विपरीत प्रवृत्ति रखेगा तो वह हित तथा अहित का जानकार न होने से बुद्धि से भ्रष्ट हो जावेगा तथा कुमार्गगामियों के वश हो जावेगा।"[12]

प्रजा का पालन करने मे राजा को ग्वाले की तरह होना चाहिये। जिस

प्रकार ग्वाला आलस्य रहित होकर बड़े प्रयत्न से गायों की रक्षा करता है। उसी प्रकार राजा को भी आलस्य रहित हो बड़े ध्यान से प्रजा के हितो की रक्षा करनी चाहये।[15]

अतः राजा को प्रजा का हित ध्यान में रखना आवश्यक है। साथ ही साथ वह न्यायप्रिय भी होना चाहिये। उसमें पालक के गुण मौजूद होने चाहिये। यह कहावत प्रसिद्ध है कि "यथा राजा तथा प्रजा" जैसा राजा होगा वैसी प्रजा भी होगी। अतः राजा को न्यायप्रिय होना चाहिए। भ्रष्टाचारी व दुराचारी नहीं होना चाहिये।

भरतजी कहते हैं, "दुःखी प्रजा की रक्षा करने में नियुक्त आप लोगों का धर्म योग व क्षेम का है" अर्थात् जनता के लिये नवीन वस्तु की प्राप्ति एवं पुरानी की रक्षा करना राजा का परम धर्म है। वह धर्म पांच प्रकार का है (1)कुलपालन (2) बुद्धिपालन (3) अपनी रक्षा (4) प्रजा की रक्षा (5) समंजसपना। प्रजा दो प्रकार की है (1) प्रजा की रक्षा करने वाली प्रजा (2) जिसकी रक्षा की जाय, वह प्रजा। अपनी, कुल की एवं बुद्धि की रक्षा करने में धर्म ही उत्तम साधन है और प्रजा की रक्षा में भी धर्म व न्यायप्रियता का होना आवश्यक है।

राष्ट्र की रक्षा व विकास समुचित हो इसके लिए जनता को तीन वर्गो में बांटा गया। इस वर्गीकरण में गुणों की प्रधानता थी। जनता में सेना (Army), अर्थ (Finance), तथा श्रम (Labour) का वर्गीकरण समुचित होना आवः ाक है। इन तीनों का निर्माण अहिंसा के सिद्धांत पर होना चाहिये। राष् के अंग-अंग में इन तीनों की समता व सामर्थ्य होना ही चाहिये।

अतः जहाँ मानव में वीरता व साहस की भावना देखने को मिली वह सैन्य वर्ग या क्षत्रिय वर्ग कहलाया। जिन मनुष्यों में बुद्धि तथा साहस के साथ संचय की भावना पायी गई वह वैश्य वर्ग कहलाया, उस पर अर्थ सम्पन्नता का भार डाला गया। उनका कर्त्तव्य न्यायपूर्वक अर्थ कमाकर एवं संचय कर राष्ट्र को समृद्धशाली बनाना था। शेष मानव श्रम भार वहन करने के लिये स्वतंत्र था।

इस प्रकार का राष्ट्र का वर्गीकरण राजनीति को शक्तिशाली बनाने के निमित्त हुआ।

" उत्पादितास्रयो वर्णास्तदा तेनाधि वेदसाः, क्षत्रिय वणिजः शूद्रा क्षतत्राणादिर्मुगुणैः।"[15]

राज्य को शक्तिशाली बनाने के निमित्त ही भारत देश में (तत्कालीन भरत क्षेत्र) अनेक नगरों, जनपदों, गाँवों की स्थापना हुई और प्रत्येक का एक-एक शासक नियुक्त हुआ।"

"तदनन्तर कौशल आदि महादेश, अयोध्या आदि नगर, वन, सीमा सहित गाँव और खेडो आदि की रचना की गई।"[16] "सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्, कुरू, काशी, कलिंग, अंग, बंग आदि देशों की रचना की गई।"[17]

गॉव बसाने के लिये और उपभोग करने वालों के लिये योग्य नियम बनाना, नवीन वस्तु के बनाने (योग) तथा पुरानी वस्तु (क्षेम) की रक्षा के उपाय के लिये 'हा' 'मा' 'धिक' की दण्ड व्यवस्था, लोगों से काम करवाना, जनता से कर वसूल करना यह सब राजाओं के अधीन था। इस प्रकार जनता की रक्षा, उत्पादन में वृद्धि व विकास, दण्ड व न्याय व्यवस्था राजाओं व शासकों द्वारा की जाती थी।

राज्य की व्यवस्था के लिये योग्य धन कैसे मिले इसके लिये कर निर्धारण की व्यवस्था भी शासकों द्वारा लागू की जाती थी। लेकिन टैक्स की वसूली जनता को बिना पीड़ा दिये होनी चाहिये। जैसे दूध दुहने वाली गाय से, बिना पीड़ा दिये दूध दुहा जाता है, उसी प्रकार जनता से कर वसूल किया जाना चाहिये ताकि कर का बोझ जनता पर लादने की नौबत न आये। जनता आसानी से तथा सहजता से कर अदा कर सके। वर्तमान में कर-व्यवस्था एक भार है जनता को कर से इतना अधिक दबा दिया गया है कि अर्थव्यवस्था पंगु बनकर रह गयी है। उसमें गरीब अधिक गरीब तथा अमीर अधिक अमीर बनता चला जा रहा है। आदि पुराण में वर्णित कर व्यवस्था के अनुकूल वर्तमान में दैनिक उपभोग की वस्तुओं पर कर नहीं लगाया जाना चाहिये। हाँ,

आरामदेह (Luxery Items) वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाया जा सकता है।

आचार्य जिनसेन ने शासक को अहिंसा के आसन पर आरूढ़ करा है। राजनीति में हिंसा का पुट नहीं होना चाहिये। भरत क्षेत्र के जनपद में आर्य थे साथ ही कुछ उद्दण्ड प्रवृत्ति के लोग (अनार्य) भी थे। उस समय यदि शासन सत्ता को केन्द्रीभूत न किया जाता तो राजनीति में संभवतः खून की नदियाँ बहतीं। फलस्वरूप अहिंसामय राजनीति एवं संस्कृति का उदय नहीं हो पाता। राष्ट्र के विकास के लिये सम्राट भरत ने शक्ति को केन्द्रीभूत किया। वैसे तो सभी स्वाधीन व स्वतंत्र थे लेकिन अहिंसक संस्कृति की अभिवृद्धि के लिये प्रत्येक शासक को सम्राट की सत्ता स्वीकार करनी होती थी। भरत की षटखण्ड की विजय धर्मपूर्ण थी और लोकोपकार की भावना से अभिप्रेत थी। सभी स्वाधीन थे लेकिन उद्दण्ड बनकर हिंसक बनने और दूसरे के अधिकार छीनने के लिये स्वतंत्र नहीं थे।

युद्ध की नीति एवं विदेश नीति भी अहिंसक थी। युद्ध को टालने का प्रयास किया जाता था। सर्वप्रथम तो युद्ध निहित स्वार्थो के लिये, नहीं लड़ा जाता था जनहित के लिए लड़ा जाता था। उसमें भी युद्ध को टालने का प्रयास किया जाता था, फिर भी जनता के हित में लड़ना पड़े तो खूनी संघर्ष नहीं होकर अहिंसक युद्ध ही होता था। जैसा कि भरत व बाहुबली के बीच हुआ। देशों को, शत्रु देशों से शांति समझौता या संधि करनी चाहिये। "युद्ध को टालने का ही प्रयत्न करें क्योंकि युद्ध जन-हानि एवं माल-हानि का कारण है। युद्ध का भविष्य भी बुरा है (अवनति का कारण है) अतः संधि समझौता करना चाहिये।"[18]

वर्तमान युग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी शांति व समझौतों पर ही आधारित होनी चाहिये ताकि भविष्य में विश्व युद्ध एवं उससे होने वाले भीषण नरसंहार से बचा जा सके।

राजनीति का संरक्षण उचित दण्ड विधान से हो सकता है। यदि राजनीति अहिंसक होगी तो उसकी दण्ड-संहिता भी अहिंसक होनी चाहिये। भटका हुआ

उद्‌दण्ड मनुष्य प्रेम से सुधर सकता है। जिस प्रकार बालक को प्रेम से सुधारा जा सकता है उसी प्रकार अपराधी मनुष्य को भी सुधारा जा सकता है। अहिंसक राजनीति मानव के हृदय में विश्व प्रेम की गंगा बहाती है। मानव को सन्मार्गी बनाती है।

"जो राजा दुष्ट व मित्र सभी को निरपराध बनाने की इच्छा रखता है वह मध्यस्थ रह कर सब पर समान दृष्टि रखता है। इस संमजसत्व गुण से न्यायपूर्वक आजीविका करने वाले शिष्ट पुरूषों की रक्षा तथा अपराध करने वाले दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिये।"[19] "प्रजा में कोई अपराध करता है तो उसके अनुरूप दण्ड देना चाहिये न कि कठोर दण्ड।"[20] "कठोर दण्ड देने वाला राजा प्रजा को उद्विग्न कर देता है प्रजा ऐसे राजा को छोड़ देती है।"[21]

"समस्त प्रजा को समान रूप से देखना चाहिये यह राजा का समंजसत्व गुण कहलाता है। दण्ड विधान में क्रूरता व घातकपना नहीं होना चाहिये न ही कठोर वचन बोलने चाहिये और न ही दण्ड की कठोरता ही होनी चाहिये।"[22]

अपराधिक प्रवृत्ति वालों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई जिसमें 'हा' 'मा' 'धिक' की उत्तरोत्तर कठोर दण्ड व्यवस्था थी। यह वाचनिक दण्ड विधान था। उस समय व्यक्ति इतने में ही अपना मरण समझता था। आज की दण्ड-संहिता अति कठोर है फिर भी वह मानव में सुधार नहीं ला पा रही है।

भरत के समय में लोग अधिक अपराध करने लगे थे। तब वध, बंधन एवं शारीरिक बंधन की दण्डनीति भी चलायी गयी।

"तत्राद्यै पंचमिनृणां कुलकुद्‌भिः कृतागसाम् हाकार लक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तरा।"[23]

"हमाकारश्च दण्डोऽन्यैः, पंचमि संप्रवर्तितः पंचमिस्तु ततः शैषौर्धमाधिक्कार लक्षणः"[24]

"शरीर दण्डनं चैव वध, बन्धनादि लक्षणम् नृणां प्रबल दोषाणां भरतेन् निदोनितम्।"[25]

जो व्यक्ति (अपराधी) प्रजा को सताये व लूटमार करे उसके लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। उसकी संपत्ति जब्त करने का प्रावधान भी रखा गया।

"राजा को चाहिये कि वह चोर, डाकू आदि की आजीविका जबरन नष्ट कर दे क्योंकि कांटों को दूर करने से ही प्रजा का कल्याण होता है।"[26]

मनुष्य की उद्दण्डता ने दण्डनीति को कठोरता का बाना पहनाया है। वध, बंधन तथा शारीरिक दण्ड में भी अहिंसक वृति का पूर्ण ख्याल रखना चाहिये। मानव की दृष्टि में व्यक्ति को लज्जित बनाना, देश..निकाला देना, व्यक्ति के हृदय में अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना दण्ड नीति का ध्येय रहा है।

आदि पुराण में शासक के गुणों की चर्चा भी की गई है। यथा–

राजा को सर्व प्रजाजनों के प्रति पक्षपात रहित होकर समंजसवृति अपनानी चाहिये। पक्षपात वृति वाला राजा अपने ही लोगों द्वारा अपमानित होता है उसे रक्षा करने वाली प्रजा के हित की रक्षा भी करनी चाहिये। जो सैन्य वर्ग देश की रक्षा करते हैं उनकी रक्षा करना राजा का प्रथम कर्त्तव्य है।

"जिस प्रकार आश्रित गायों की रक्षा करने के लिये ग्वाला भरसक प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजा भी सेना में घायल सैनिकों का उत्तम उपचार (औषधि वगैरह देना) कराकर विपत्ति का परिकार करे। सही होने पर उसे आजीविका प्रदान करे।"[27]

"पराक्रम प्रकट करने वाले एवं अच्छे योद्धाओं को अच्छी आजीविका एवं उचित सम्मान प्रदान करे। उन्हें नौकरी से न हटावे। उनके प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग न करे। युद्ध में सैनिकों के मर जाने पर उनके परिवारजनों को नियुक्त करे। उससे राजा की कृतज्ञता होती है।"[28]

राजा को अपने पद के प्रति लिप्सा का भाव नहीं होना चाहिये। समय आने पर शासन व्यवस्था का कार्यभार त्याग कर दूसरों को सौंप देना चाहिये।

"बुद्धिमान पुरुष को अपथ्य औषधि के समान राज्य का त्याग कर देना चाहिये। उसे राज्य के विषय में विरक्त हो, भोगोपभोग का त्याग कर देना चाहिये। अन्त समय में तो समस्त आडम्बर का त्याग कर सल्लेखना धारण करनी चाहिये।"[29] राजा चन्द्र गुप्त इसके जीते जागते उदाहरण हैं। उनके पश्चात् होने वालो राजाओं ने राज्य त्याग कर समाधिमरण व्रत ग्रहण नहीं किया। अतः राजा को या शासक पद पर आसीन व्यक्ति को गुणवान, शिक्षक, बुद्धिमान, विद्वान एवं न्यायप्रिय होना चाहिये। धर्मबुद्धि का धारक होना चाहिये। प्रजा के पालन में तत्पर होना चाहिये।

इस प्रकार आदिपुराण में उत्कृष्ट राजनीतिक सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है। आदिपुराण की राजनीति में जहॉ एक ओर सर्वोत्कृष्ट शासक के गुण देखने को मिलते हैं वहीं स्वयं राजनीति भी लोकोदय, राष्ट्रीयता, सर्वोदय अहिंसा एवं पक्षपात रहित भावना से ओतप्रोत है।

संदर्भ-ग्रन्थ

- आदिपुराण, प्रथम भाग, आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-1993
- आदिपुराण, द्वितीय भाग, आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली-1993
- दिवाकर अभिनन्दन ग्रथ, जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम, वी नि. 2473

1 तृतीय पर्व, श्लोक 206, आदिपुराण।

2 वही 3/211

3. वही 3/199 "इतिकर्तव्यता नतिमीवांस्तदार्यकान। नाभिर्नभेयमित्युक्त्वा व्याजहारः पुनः स तान।

4. वही 38/258, पार्थिवान प्रवतान् यूय न्यायैः पालयत· प्रजा । अन्यायेषु प्रवृताश्चेद् वृतिलोपो ध्रुवं हि व ।

5 वही 38/261, "प्रजासु वर्तितव्य भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना·।"

6. वही 38/259, "न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम्"

7 वही 38/262, "पालयेद्य इमधर्म सधर्मविजयी भवेत्। क्षमा जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविक·"

8 वही 38/263, "इहैव स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः। अमुन्नाभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जय "

9. वही 38/263 "इतिभूयोऽनु शिष्यैतान् प्रजापालन संविधौ। स्वयं च पालयत्येनान् योगक्षेमा नु चिन्तनैः।"

10 वही 38/269 "त्वया न्यायधनेनाग भक्तिव्यं प्रजाधृतौ। प्रजा कामदुहा धेर्नुमता न्यायेन योजिता।"

11. वही 38/270, "राजवृतमिदंविद्धि यन्नयायेन धनार्जनम् वर्धन रक्षण चास्य तीर्थ च प्रतिपादनम्"

12. वही 38/271, 272

13 वही 42/138, 139

14. दिवाकर अभिनन्दन ग्रंथ पृ 93, 94

15. वही 16/182, 183, 184, 185, 186

16 वही 16/151, "कोसलादीन महादेशान् साकेतादिपुराणि च। सारामसीमनिगमान खेटादीश्च न्यवेशयत"।

17. वही 16/152 से 156

18. वही 42/195, 196 "जनक्षयाय संग्रामो बह्वपायो दुरूत्तर· तस्मादुपप्रदानाद्यै· सधेयोऽरि 42/196

19. वही 42/200, 201, 202

20. वही 42/140, 141

21 वही 42/142 "तीक्ष्ण दण्डोहि नृपतिस्तीव्रमुद्वेज येतप्रजा। ततोविखत प्रकृति जह्यरेनमभु प्रजा·।

22. वही 38/279, "समंजसत्वमस्येष्ट प्रजास्वविषमेक्षिता। आनृशस्यमवाग्दण्डापारूप्यादि विशेषितम्।

23 वही 3/214

24 वही 3/215

25. वही 3/216

26. वही 42/164 'प्रसह्य च तथाभूतान वृत्तिच्छेदेन योजयते। कष्टकोद्वरणेनैव प्रजाना क्षेमधारणं"।

27 वही 42/148 तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले व्रणित भद्रम् प्रतिर्कुयाद् भिषग्वर्यान्नियोऽ-यौषधसदा।

28 वही 42/158, 159, 157, 164 से 168, 150, 151

29 वही 42/121, 122

बी-116, सेठी कॉलोनी,
जैन मंदिर मार्ग, जयपुर-302004
फोन : 2605007

भारतीय जैन कला में प्रतिमा एवं मूर्तिकला

-(डॉ.) श्रीमती मीनाकुमार

जैन धर्म में मोक्ष का परम साधन कर्म का क्षय माना गया है। धर्म के नियम और सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके उसे व्यवहार में लाने को सम्यक् चरित्र कहते हैं। इस मार्ग में अनुभवसिद्धज्ञान प्राप्त करने वाले 24 तीर्थकर हुए हैं, जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष द्वारा "जिन" पद प्राप्त किया और तीर्थकर कहलाये हैं।

तीर्थ शब्द का शाब्दिक अर्थ नदी या नाला है अर्थात् जो संसार रूपी नदी को पार कर ले, तीर्थकर है। जैन-धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही करता, वह यह नही मानता कि कोई ऐसा ईश्वर है, जिसने संसार की रचना की मनुष्य; स्वयमेव अपने दुःख-सुख के लिये उत्तरदायी होता है।

श्री द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल ने बताया है— तीर्थकरों की प्रतिमाओं का प्रयोजन जिज्ञासु जैनों में न केवल तीर्थकरों के पावन-जीवन, धर्म वे प्रचार और कैवल्य प्राप्ति की स्मृति ही दिलाना था वरन् तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित पथ का पथिक बनने की प्रेरणा भी थी।

जैन तीर्थंकर-प्रतिमा का निर्माण

प्रतिमा का शाब्दिक अर्थ प्रतिरूप होता हैं। प्रतिरूप से तात्पर्य समान आकृति से है। पाणिनी ने अपने सूत्र "इवे प्रति कृतो" में समरूप आकृति के लिये प्रतिकृति शब्द का प्रयोग किया है। प्राचीन भारत में प्रतिमा शब्द का प्रयोग वैदिक युग से ही होता चला आ रहा हैं। ऋग्वेद में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिमा शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रतिमा कला का विकास वैदिक युग में हुआ था या नही यह विवादास्पद रहा है। वैदिक कालीन मूर्तिकला एवं प्रतिमा कला के उदाहरण प्राप्त नहीं होते

हैं। वैदिक काल में लोग ऐसे धर्म में विश्वास करते रहे जिसमें प्रतिमा पूजन का कोई स्थान नही था या दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वैदिक काल में मूर्तियों के लिये ऐसा पदार्थ उपयोग में न लाया जाता हो जिससे वे चिरकाल तक सुरक्षित रहतीं। कुछ विचारकों का कहना है कि वैदिक काल में व्यक्ति प्रतिमा पूजा नहीं करते थे। उनकी उपासना काल्पनिक एवं भावात्मक थी। प्रकृति के सौन्दर्य वैभिन्य एवं काल्पनिक वैचित्रय से अभिभूत प्राणी भय एवं तन्मयता के कारण प्रकृति के विभिन्न रूपों की अमूर्त देवता के रूप में उपासना करने लगा। उनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ का आश्रय लिया गया। जिसमें आहुति देते समय वे उन विशिष्ट देवों के नाम से आहुति डालते थे। डा. बोल्लेन सैन ने बताया है कि वैदिक कालीन व्यक्ति प्रतिमाओ से परिचित ही नही थे वरन् उसकी पूजा भी करते थे।

गुप्कालीन मूर्तियां हमें कला, संस्कृति और उस समय के समाज का पूर्ण अनुभव कराती हैं। कुछ संस्कृतियाँ कुछ युगों में अन्य संस्कृतियों और युगों की अपेक्षा कला, धार्मिक, सत्य और नैतिक आदर्शो की वाहिका रहीं हैं।

जैन धर्म के प्रर्वतक भगवान महावीर थे, किन्तु जैन परम्परा के अनुसार भगवान महावीर 24वें तीर्थकर हैं। इनके पहले 23 तीर्थकर हो चुके थे जो निम्नवत है :-

(1) ऋषभनाथ, (2) अजितनाथ, (3) संभवनाथ, (4) अभिनन्दननाथ, (5) सुमतिनाथ, (6) प्रद्मप्रभु, (7) सुपार्श्वनाथ, (8) चन्द्रप्रभु, (9) पुष्पदन्त, (10) शीतलनाथ, (11) श्रेयांसनाथ, (12) वासुपूज्य, (13) विमलनाथ, (14) अनन्तनाथ, (15) धर्मनाथ, (16) शान्तिनाथ, (17) कुथुनाथ, (18) अरनाथ, (19) मल्लिनाथ, (20) मुनि सुव्रतनाथ, (21) नमिनाथ, (22) नेमिनाथ, (23) पार्श्वनाथ

जैन तीर्थकर वीतराग कहलाते हैं, इसीलिये उनकी प्रतिमायें ध्यानस्थ रूप में नग्न शरीर से पद्मासन में स्थित होती हैं, उनकी छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह होता है। श्वेताम्बर प्रतिमाओं में तीर्थकर को कच्छ पहने हुये दिखाया जाता

है।[1] तीर्थकरों की दूसरे प्रकार की प्रतिमाऐं तप का भाव व्यक्त करती हुई कायोत्सर्ग मुद्रा में होती है। वृहत संहिता में बताया गया है कि घुटने तक लटकते हाथ, छाती में श्रीवत्स का चिन्ह, तरूण-सुन्दर, प्रशान्त अर्हतदेव की प्रतिमा, सौम्य, शान्त ध्यानस्थ निर्मित होनी चाहिये।

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में निर्मित तीर्थकर प्रतिमाओं में कुछ भिन्नता होती है। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमा पूर्णतः नग्न होती है। और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वस्त्र होता है। उसमें गुह्या भाग नही दिखाया जाता है। ''जिन'' प्रतिमा का बैठा हुआ स्वरूप सभी तीर्थकर प्रतिमाओं में एक समान होता है। केवल उसकी पीठिका पर निर्मित लाक्षणों से उस तीर्थकर प्रतिमा की पहचान की जाती है।

जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण काल

भारतीय समाज एक ऐसा समाज था जो एक सीमा तक धर्म से प्रभावित था समाज में जाति भेद भी धर्म के ही कारण था। जिस समय चित्रों और मूर्तियों का निर्माण हुआ, उस समय कला की उन्नति के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। ब्राहमण धर्म कर्मकाण्डो से युक्त था। यज्ञ अनुष्ठान ही इसके प्रधान तत्व थे। कला की अभिवयक्ति हेतु किसी आधार का अभाव होने से विशिष्ट प्रगति न हो सकी। अतएव क्षत्रिय राजाओं ने जनता को नयी विचारधारा प्रधान की। नवीन कला का प्रादुर्भाव हुआ, जैन और बौद्ध धर्म की पुनः स्थापना हुई। इसके सिद्धान्त इतने सरल और स्वाभाविक थे कि जनता शीघ्र ही इस ओर आकर्षित होने लगी। राजाओं ने इसे राजधर्म घोषित किया। धर्म के प्रचार हेतू कला को अपना माध्यम बनाया। जिससे कलास्वरूप मूर्तिकला, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि कलाओं का श्रेष्ठतम विकास हुआ। चित्र एवं मूर्तियां कलाकार की अनुभूति, कल्पना, मौलिकता, त्याग और शक्ति की परिचायक हैं।

जैन तीर्थकरो की प्रतिमाओं का निर्माण कब से आरम्भ हुआ यह स्पष्ट

रूप से कहना असम्भव है। मुनि कान्तिसागर ने जैन साहित्य में वर्णित आर्द्र-कुमार की कथा का उल्लेख किया हैं। जिसमें वर्णित है कि वह अनार्य देश का निवासी था। मगध के राजवंश के साथ उसकी गहरी मित्रता थी। अभय कुमार ने उन्हें "जिन" प्रतिमा भिजवायी थी, बाद मे वह भारत आया और भगवान महावीर के पास आकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। इस सम्बन्ध में प्रभास पटल से डा. प्राणनाथ विद्यालंकार द्वारा प्राप्त नाम पत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। जिसमे लिखा है कि बेबीलोन के राजा नेबूचन्दबेजार ने रेवतगिरि के नेमिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था, उन दिनों सौराष्ट्र आन्तिरिक और बाह्य व्यापार का केन्द्र था। सम्भावना है कि विदेशी शासन यहीं से आया हो और अपने द्वारा पूर्व प्रेषित "जिन" प्रतिमा के संस्कार के कारण जीर्णोद्वार कराया हो।

मुनि कान्तिसागर ने प्राचीन जैन साहित्य में उपलब्ध विवरणों के आधार पर बतलाया है कि मगध के शासक शिशुनाग और नन्दराजा जैन धर्म के उपासक थे। नन्दराजा भगवान पार्श्वनाथ की अर्चना करते थे। भगवान महावीर ग्रहस्थावास में जब भावमुक्त थे और राजमहल में कायोत्सर्ग में मुद्रा में खड़े थे, उस समय के भावों को व्यक्त करने वाली गोशीर्ष चन्दन की प्रतिमा बिद्युन्माली देव द्वारा निर्मित हुयी एवं राज महिर्षी प्रभावती द्वारा पूजी जाती रही। तित्थोगाली पइन्नय से ज्ञात होता है कि नन्द राजाओं ने पाटलिपुत्र में पाँच जैन स्तूपों का निर्माण करवाया था। युआनच्युआड ने भी अपनी यात्रा विवरण में इन पाँचों स्तूपो का उल्लेख किया है। और बताया कि किसी आबोध राजा द्वारा वे ध्वस्त कर दिये गये। इससे यह स्पष्ट होता है कि "जिन" उपासना और प्रतिमाओं की पूजा 5 वीं ईसा पूर्व में प्रचलित थी। उदयगिरि की हाथी गुम्फा नामक गुफा में ई. पू. की प्राकृत भाषा में लिखित एक सुविस्तृत लेख प्राप्त हुआ है। जिसमें कलिंग सम्राट खारवेल के बाल्काल व शासनकाल के तेरह वर्षो का चरित्र वर्णित है। यह लेख अरहंतो व सर्व-सिद्धों के नमस्कार (नमो अरहंतानं, नमो सब सिधानं) के साथ प्रारम्भ हुआ है और उसकी 12 वीं पक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि उसने अपने शासन काल के 12 वे वर्ष में मगध पर आक्रमण कर वहां के राजा ब्रहस्पतिमित्र को

पराजित किया और वहां से "जिन" की प्रतिमा को अपने देश को लौटा लिया, जिसे पहले नन्दराजा अपहरण कर ले गया था।

जैन तीर्थकर प्रतिमा निर्माण के विकास क्रम में पटना के निकट लोहनीपुर से प्राप्त एक प्राचीन मस्तकविहीन "जिन" प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जो सर्वप्रथम जायसवाल महोदय ने प्रकाशित की थी इस प्रतिमा का सिर और हाथ खंण्डित है। उसके पैर भी जंघा के पास से टूट गये हैं। प्रतिमा का तंग वक्षस्थल जैन तीर्थकरों के तपस्यारत शरीर का नमूना है। इस प्रतिमा पर चमकदार पालिश है। जिससे यह मौर्य कालीन कृति ज्ञात होती है। शताब्दियों तक भू-गर्भ में रहने पर भी इसकी चमक में अन्तर नहीं आया। जो मौर्य कालीन शिल्प की अपनी विशेषता है। शाह महोदय ने इस प्रतिमा को अब तक की प्राप्त तीर्थकरों की प्रतिमाओं मे से सबसे प्राचीन प्रतिमा मानी है। ऐसी ही एक मानव मूर्ति हड़प्पा की खुदाई से मिली है। जो पूर्णतः नग्न है। डा. हीरालाल जैन ने आकृति और भावाभिवयञ्जन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करते हुये बतलाया है कि पटना के लोहनीपुर से प्राप्त मस्तकहीन नग्नमूर्ति और हड़प्पा से प्राप्त मस्तकहीन नग्नमूर्ति में बड़ा ही साम्य है और पूर्वोत्तर परम्परा के आधार से मूर्ति वैदिक व बौद्ध प्रणाली से सर्वथा विसदृश व जैन प्रणाली के पूर्णतया अनुकूल सिद्ध होती हैं।

जैन तीर्थकर प्रतिमाओं के स्पष्ट निर्माण का काल ई. शती का आरम्भ है। इस समय से तीर्थकर प्रतिमाओं का प्रमाण मिलने लगता है। यह प्रमाण मथुरा की कला में उपलब्ध होता है। मथुरा जैन धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ जैनियों का एक विशाल स्तूप था। जिसके अवशेष कंकाली टीले के रूप में विद्यमान हैं। इस टीले के उत्खनन से स्तूप के अनेक अवशेष मिले है। जिसके "आयागपट्ट" विशेष उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट एक विभूषित शिला होती हैं। जिनके साथ "जिन" की प्रतिमा या कोई अन्य पूज्य आकृति जुड़ी रहती है। जैनियों में ई. सन के पूर्व से ही आयागपट्ट का निर्माण होता था। आरम्भ में इन पटों पर पवित्र चिन्ह बनते थे। परन्तु कुछ समय बाद इसके मध्य में तीर्थकरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाने लगी। और इन्हें मन्दिरों में रखा

जाना लगा। प्रथम शती ई. में मथुरा की कला में तीर्थकरों की स्वतंत्र प्रतिमाओं का भी निर्माण होने लगा जिनकी कुल संख्या 24 है।

मध्यकालीन भारत के विभिन्न भागों से जैन तीर्थकरों की अनेक प्रतिमायें प्राप्त होती हैं। मध्यकाल की अनेक पार्श्वनाथ तीर्थकर प्रतिमाओ के पार्श्व में यक्ष प्रतिमाओं को देखकर एस.सी. काला महोदय ने बतलाया है कि गणपति की उपासना भी जैन प्रतिमाओं के साथ की जाती थी। उन्होंने यक्ष प्रतिमाओ को भ्रमवश गणपति की प्रतिमा स्वीकार कर ली थी। जैन प्रतिमा विधान के अनुसार पार्श्वनाथ से सम्बन्धित यक्ष (पार्श्वयक्ष) को गणपति के सदृश गजमुख प्रदर्शित किया जाता है। किन्तु पार्श्वयक्ष प्रतिमा के नीचे वाहन रूप में कच्छप की आकृात निर्मित होती है और गणपति के वाहन के रूप में मूषक प्रदर्शित किया जाता है। मध्यकालीन गणपति प्रतिमाओं के हाथों में मोदक, मोदक-पात्र, कमल, परशु, नाग, अंकुश, कण इत्यादि का प्रदर्शन हुआ है जबकि पार्श्वनाथ की प्रतिमा में ऐसा नहीं होता है।

जैन कला की समृद्धि के वास्तविक परिचय का अभाव दिखायी देता है। परन्तु उपरोक्त वर्णन के अनुसार कुछ उदाहरणों में उनकी महत्ता दर्शनीय है। जिनमें लोहनीपुर (पटना) और कंकाली टीले (मथुरा) की जिन प्रतिमाओं में अंकित यक्ष-युगल उदात्ता लावण के प्रतीक हैं। अधिकांशतया तीर्थकरों दोनों पार्श्वो में यक्ष-यक्षणियों के युगल के सौम्यचित्रों के साथ-साथ मूर्तियो में भी उज्जवल धूमवर्ण/लोक शैली की अल्हड़ता, वस्त्र सज्जा और हस्त मुद्राएं सभी में कलात्मक श्रंगार तथा माधुर्य ओत-प्रोत हैं।

भारतीय चित्रकला में जैन शिल्प का एक अपना विशिष्ट स्थान है। जिसका स्पष्टीकरण जैन प्रतिमाओं को देखकर हो जाता है। क्योंकि जैन प्रतिमाओं की भॉति चक्षु निर्माण शैली अन्यत्र दुर्लभ है। सित्तनवासन की जिन पाँच मूर्तियों को प्राचीन माना जाता है उन पर बोद्धशैली का प्रभाव दिखायी देता है। यदि प्रतीकों को छोड़ दिया जाये तो अधिकांश जिन मूर्तियों और बुद्ध मूर्तियों में बहुत कम अन्तर दिखायी देता है।

बौद्ध कला का अस्तित्व सारे भारत और सारे एशिया में व्याप्त हुआ, किन्तु जैन कला भारत की सीमा के अन्दर ही बनी रही। बौद्धकला को अशोक, कनिष्क आदि साम्राज्यों का संरक्षण प्राप्त था, जबकि जैनकला किसी भी युग में राज्याश्रित नही रही। जैन कला सदा ही धर्म की पगडंडियो पर चलती रही। लोकप्रियता प्राप्त न कर धर्मपरक होने के कारण उसमें पवित्रता और नीरसता व्याप्त है। परन्तु उच्च आदर्शो के प्रति उसकी आस्था बनी रही है।

जेसलमेर, पाटन, खभात, पूना, बीकानेर, बडौदा, आदि स्थानों के महत्वपूर्ण स्थानो में महत्वपूर्ण जैनाश्रित कला के नमूने विद्यमान हैं। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि देखरेख के अभाव में ये चिरस्थायी संरक्षण पा सकेगी या नही।

—रीडर एवं अध्यक्षा-चित्रकला विभाग
दिगम्बर जैन महाविद्यालय, बड़ौत

''स्याद्वादो वर्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यपीडन किंचित जैनधर्म स उच्यते।।''

अर्थात् ''जिसमे सर्वत्र स्यांद्वाद का वर्णन-अनेकान्त का व्यवहार होता है, पक्षपात नहीं पाया जाता और न दूसरों के पीडन का-हिंसा का ही कुछ विधान है उसे जैनधर्म कहते हैं।

क्या बद्ध कर्मों में परिवर्तन संभव है?

-डॉ. आराधना जैन

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।
निजार्जितं कर्मविहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन्।
विचारयन्नेवमनन्य मानसः परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।।

आचार्य अमितगति के उक्त पद्यों का पं. श्री जुगलकिशोर जी ने पद्यानुवाद किया है—

स्वयं किये जो कर्मशुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते।
करें आप फल देय अन्य तो स्वयं किये निष्फल होते।।
अपने कर्म सिवाय जीव को कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि।।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक जीव को अपने कृत कर्मो का फल भोगना पड़ता है। पर जब तक कर्म सत्ता में रहते हैं तक उनमें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। उसकी शक्ति, अवधि आदि जीव के परिणामो से घट भी सकती है और उनमें वृद्धि भी हो सकती है। जैसे यदि दस हजार रु. की राशि 7/8 वर्ष के लिए फिक्स्ड कर दे तो निश्चित अवधि के बाद दुगनी मिलेगी। हम चाहे तो इस फिक्स्ड राशि की अवधि बढ़ा कर तिगुनी या चार गुनी राशि भी प्राप्त कर सकते है। यदि हम चाहें तो इस पर ऋण भी ले सकते हैं और चाहे तो समय से पूर्व ही उसे समाप्त कर प्राप्य राशि का भुगतान भी प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार कर्मो की स्थिति फलदान शक्ति में परिवर्तन हमारे पुरुषार्थ से होता रहता है। आगम की भाषा में इसे संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण कहा जाता है। संचित कर्म में प्रायः ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं पर कुछ कर्म इसके अपवाद

भी हैं --

जैन दर्शन के अनुसार कर्म की आठ मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता। यह केवल उत्तर प्रकृतियों में ही होता है।[1]

उत्तर प्रकृतियों में आयु कर्म की चार प्रकृतियों का एक दूसरे में संक्रमण नहीं होता।

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों (दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय) का एक दूसरे में संक्रमण नहीं होता। पर इनकी उत्तरा प्रकृतियों का होता है।[2]

उदायावलिका बंधावलिका, उत्कर्षणावलिका और संक्रमणा-वलिका आदि को प्राप्त कर्मस्कन्धों में संक्रमण नहीं होता। अर्थात् वे कर्मस्कन्ध जो उदय, बन्ध, उत्कर्षण और संक्रमण की सीमा में जा चुके हैं उनका संक्रमण नही होता।[3]

कर्मो का जिस रूप में बन्ध होता है, कर्म उसी रूप मे फलोन्मुख नहीं होते वर्तमान पुरुषार्थ के आधार पर उनकी स्थिति और शक्ति में हीनाधिकता होती रहती है। जो इस प्रकार है-

अपकर्षण- कर्मो की स्थिति अर्थात् बंधे रहने का समय और अनुभाग दोनों की हानि होना अपकर्षण कहलाता है।[4]

कर्मो की स्थिति का अपकर्षण होने पर कर्म जितने काल के लिए बंध को प्राप्त हुए थे उनका वह काल पहले से बहुत कम हो जाता है। जिस प्रकार कर्मो की स्थिति में कमी हो जाती है उसी प्रकार अनुभाग शक्ति में भी कमी हो जाती है तीव्रतम शक्तिवाले संस्कार एक क्षण में मन्दतम हो जाते है।[5]

उदाहरणार्थ राजा श्रेणिक ने मुनि यशोधर के गले में सर्प डालकर सातवें नरक की आयु का बन्ध किया था पर शीघ्र ही उनकी भावना में निर्मलता आने से सातवे नरक की स्थिति कम होकर पहले नरक की हो गयी और आयु मात्र चौरासी हजार वर्ष शेष रह गयी थी। यह ऐसा रहस्य है जिससे वर्तमान कर्मो के द्वारा अनागत को सुधारा जा सकता है और पूर्वसंचित कर्मो का क्षय किया

जा सकता है।

उत्कर्षण - कर्मो की स्थिति अर्थात् बंधे रहने के समय और अनुभाग में वृद्धि हो जाना उत्कर्षण है।[6]

कर्मो की स्थिति का उत्कर्षण हो जाने पर, कर्म जितने काल के लिए बंध को प्राप्त हुए थे, उसका उल्लंघन कर अधिक समय तक उदय में आते हैं। जैसे स्थिति में वृद्धि हो जाती है उसी तरह अनुभाग शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है। इससे मन्दनतम शक्तिवाले संस्कार क्षणभर में तीव्रतम हो जाते हैं।[7]

उदारणार्थ किसी जीव ने पहले शुभ कर्मो का बन्ध किया फिर उसकी भावनाएँ और भी निर्मल हो जाएं तो शुभकर्मो की स्थिति और फलदान शक्ति बढ जायेगी।

संक्रमण - पहले बंधी कर्म प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप परिणमना संक्रमण है।[8]

श्री जिनेन्द्र वर्णी ने शब्दकोश में लिखा है– जीव के परिणामों के वश में पूर्वबद्ध कर्म प्रकृति का बदलकर अन्य रूप हो जाना सक्रमण है।[9] कुसंगति के प्रभाव से सज्जन दुर्जन् हो जाते हैं और सत्संगति के प्रभाव से दुर्जन भी सज्जन हो जाते हैं। यह सक्रमण ही है जो अभ्यास के द्वारा व्यक्ति के स्वभाव को बदल देता है।

उदीरणा - कर्मो के फल भोगने के काल को उदय कहते है और भोगने के काल से पहले ही अपक्व कर्मो को पकाने का नाम उदीरणा है। आत्माराम ने उदीरणा की विवेचना करते हुए लिखा है–जो कर्म स्कन्ध भविष्य में उदय में आने वाले हैं उन्हें विशिष्ट प्रयत्न तप, परीषहसहन, त्याग, ध्यान आदि के द्वारा खींचकर उदय में आये हुए कर्मो के स्कन्धों के साथ पहले ही भोग लेना उदीरणा है। इस प्रकार उदीरणा में लम्बे समय के बाद आने वाले कर्मो को पहले ही भोग लिया जाता है।[10]

उपशम - कर्मो के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना उपशम कहलाता

है।[11] कर्म की इस अवस्था में उदय या उदीरणा संभव नहीं होते। जिस प्रकार राख से आवृत अग्नि, आवृतावस्था में अपना विशेष कार्य नहीं कर सकती किन्तु आवरण हटते ही पुनः प्रज्वलित होकर अपना कार्य करने में समर्थ हो जाती है उसी प्रकार उपशम अवस्था में रहा कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य आरम्भ कर देता है यानि उदय में आकर फल प्रदान करना प्रारम्भ कर देता है।[12]

निर्मली के डालने से जैसे मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और कुछ समय के लिए स्वच्छ जल ऊपर आ जाता है उसी तरह कर्मो की उपशमन अवस्था में परिणामों की विशुद्धि के कारण कर्मो की शक्ति अनुद्भूत हो जाती है। यद्यपि यह अवस्था क्षणिक होती है परन्तु इस अवस्था का मोक्षमार्ग में अत्यन्त महत्त्व है। क्योंकि जितने समय के लिए कर्मो का क्षोभ शान्त हो जाता है उतने समय में यह जीवात्मा समता और आनन्द का अनुभव करता है। यह अल्पकालीन आनन्द ही उसे पुनः कर्मो से मुक्ति की प्रेरणा करता रहता है। श्री जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार संस्कारों के उपशम से प्राप्त क्षणिक आनन्द ही व्यक्ति की सकल प्रवृत्तियों को अपनी ओर उन्मुख कर लेता है। उसकी स्मृति चित पर अंकित हो जाती है। एक बार किसी वस्तु का स्वाद आ जाने पर जिस प्रकार व्यक्ति पुनः पुनः उसकी प्राप्ति के लिए ललचाता रहता है और प्रयत्न करता है उसी तरह उपशम से प्राप्त रसोन्मुखता उसे निरन्तर कर्मो को पूर्ण क्षय करने और आत्माभिमुख होने की ओर प्रयत्नशील बनाये रखती है।[13]

निधत्ति - कर्मो की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है जिसमें उदीरणा और संक्रमण का तो सर्वथा अभाव होता है और कर्मो का उत्कर्षण अपकर्षण संभव होता है।[14]

निकाचित - कर्म की उस अवस्था का नाम निकाचना है जिसमें उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण, उदीरणा का अभाव होता है।[15] कर्मो की इस अवस्था को नियति कहा जा सकता है क्योंकि इस अवस्था में कर्मो का फल उसी रूप में प्राप्त होता है जिस रूप में बन्ध को प्राप्त हुआ था। इसमें इच्छा, स्वातन्त्र्य

या पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव रहता है। किसी विशेष कर्म की ही यह अवस्था होती है।[16]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन के अनुसार जीव जिस रूप में कर्मों का बन्ध करता है वे उसी रूप में फलदायी नही होते। बन्ध से उदय तक के मध्यवतीकाल में वर्तमान कर्मो के अनुसार पूर्वकृत कर्मो में परिवर्तन किया जा सकता है अशुभ/दूषित कर्मो में सुधार किया जा सकता है और कुत्सित आचरण के द्वारा पूर्वकृत कर्मो को उत्तेजक/विकृत भी किया जा सकता है और संवर निर्जरा द्वारा कर्मो को समूल नष्ट भी किया जाता है।

संदर्भ

1 गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 410
2 वही - 410
3 जेन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग-4, पृष्ठ 119
4 गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव तत्त्वप्रदीपिका, गाथा-438
5 कर्म रहस्य, प्र 172-173
6 गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव तत्त्वप्रदीपिका गाथा-438
7 कर्म रहस्य, प्र 172-173
8 गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव तत्त्वप्रदीपिका गाथा-438
9 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोप, भाग 4, प्र 82
10. जैन तत्त्व कलिका, छठी कलिका, प्र 180
11 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1 प्र 464
12 जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 4 प्र 25
13 कर्म रहस्य, प्र 175
14 जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-4, प्र 25
15 गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 450
16 जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग 4, प्र 25

-गंज बासोदा
जिला - विदिशा (म.प्र.)

जैन कर्म सिद्धान्त में 'अनेकान्त'

-डॉ. अशोक कुमार जैन

भारतीय दर्शनों में कर्मवाद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। दृष्ट साधनों में समानता होते हुए भी फल के तारतम्य में अन्तर परिलक्षित होता है उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश', न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट', मीमांसक अपूर्व तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। न्याय दर्शन के अनुसरा 'अदृष्ट' आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मो का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह 'अदृष्ट' है। जब तक उसका फल नहीं मिल पाता, तब तक आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है।[1] कारण कि यदि ईश्वर कर्म फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जायें। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है।[2] अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मो के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है।[3] मीमांसकों के अनुसार योगादिक्रियाओं से उत्पन्न होने वाले अपूर्व[4] का आश्रय आत्मा होता है। वह अपूर्व स्वर्ग की अंकुरावस्था है और वही परिपाक-काल में स्वर्गरूप हो जाती है।

जैनदर्शन में कर्म सिद्धान्त का अत्यन्त सूक्ष्य रूप से विशद वर्णन प्राप्त होता है। कर्म का मुख्य अर्थ क्रिया है। क्रिया अनेक प्रकार की होती है। हंसना, खेलना, उठना, बैठना, आना-जाना आदि ये सब क्रियायें है। क्रिया जड़ और चेतन दोनों में पाई जाती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से है, अतः केवल जड़ की क्रिया यहॉ विवक्षित नहीं है। शुद्ध जीव निष्क्रिय है। वह सदा आकाश में समान निर्लेप और भित्ती में उत्कीर्ण किये गये चित्र के समान निष्कम्प रहता है। यद्यपि जैन दर्शन में जड़, चेतन सभी पदार्थो को उत्पाद, व्यय और धौव्य स्वभाव वाला माना गया है। यह स्वभाव सभी शुद्ध और अशुद्ध सब पदार्थो में पाया जाता है किन्तु यहॉ क्रिया का अर्थ परिस्पन्द लिया है। परिस्पन्दात्मक क्रिया सब पदार्थो को नहीं होती। वह पुद्‌गल और संसारी जीव के ही पायी

जाती है। इसलिए प्रकृति में कर्म का अर्थ संसारी जीव की क्रिया लिया गया है। भाव यह है कि संसारी जीव के प्रति समय परिस्पन्दात्मक जो भी क्रिया होती है वह कर्म कहलाती है। प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्दसूरि ने लिखा है—**'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित प्राप्त परिणामः पुद्गलोपि कर्म'**[5] अर्थात् आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र है। सबको समान रूप से विकास करने की स्वतंत्रता है परन्तु जीवन के कुछ प्रसंगों में किंचित् असफलता प्राप्त होने पर हम कर्म को दोष देने लगते हैं। "करम गति टाली नाहि टलै", "विधि का विधान", "भवितव्यता अमिट है", "भाग्यं फलति सर्वत्र" इत्यादि वाक्यों के माध्यम से अपने आप को निराश कर जीवन को दुःखद बनाते हैं। हमें कर्मवाद में एकान्तिक मान्यताओं को छोड़कर अनेकान्त के आलोक में विमर्श की अपेक्षा है अन्यथा अनेक विसंगतियों उत्पन्न हो जायेगीं। जैन कर्मवाद के कुछ प्रमुख तथ्यों पर अनेकान्त के सन्दर्भ में हम प्रकाश डाल रहे हैं।

1. कर्म का जीव से कथंचित् अनादित्व और सादित्व - तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है, "अनादि सम्बन्धे च"[6] अर्थात् ये दोनों तैजस और कार्मण शरीर अनादिकाल से जीव के साथ हैं। सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द विकल्प अर्थ में है। **आचार्य अकलङ्क** जीव और कर्म के सम्बन्ध में लिखते हैं—**बंध सन्तति की अपेक्षा अनादि सम्बन्ध है और विशेषतः बीज वृक्ष के समान सादि सम्बंध है। जैस वृक्ष बीज से उत्पन्न होता है और बीज दूसरे वृक्ष से उत्पन्न होता है तथा यह वृक्ष दूसरे बीज से उत्पन्न हुआ था इस प्रकार बीज और वृक्ष का कार्य-कारण सम्बंध सामान्यापेक्षया अनादि है। इस बीज से यह वृक्ष हुआ और इस वृक्ष से यह बीज इस विशेष की अपेक्षा से सादि है अर्थात् सन्तति की दृष्टि से बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्ष की अपेक्षा सादि है।**

एकान्त से अनादिमान् ही स्वीकार कर लेने पर निर्निमित्तक होने से नवीन शरीर के सम्बन्ध का अभाव हो जायेगा। जिनके सिद्धान्त में एकान्त से तैजस,

कार्मण शरीर का अनादि सम्बंध है-उनके सिद्धान्त में पूर्व में ही आत्यन्तिकी शुद्धि को धारण करने वाले जीव के नूतन शरीर का सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा-क्योंकि शरीर के सम्बन्ध का कोई निमित्त ही नहीं है।

यदि एकान्त से निर्निमित्तक आदि सम्बंध माना जायेगा तो मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा—क्योंकि जैसे आदि शरीर अकस्मात् सम्बंध को प्राप्त होता है वैसे ही मुक्तात्मा के भी आकस्मिक शरीर सम्बंध होगा इसलिए मुक्तात्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

तथा एकान्त से सर्वथा तैजस, कार्मण शरीर को अनादि मानेंगे तो भी अनिर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा क्योंकि जो अनादि है—उसका आकाश के समान अन्त भी नहीं होगा, कार्य-कारण के सम्बध का अभाव होने से मोक्ष का अभाव हो जाता है। यदि कहो कि अनादि बीज वृक्ष की सन्तान का अग्नि से सम्बन्ध होने पर अन्त देखा जाता है उसी प्रकार तैजस कार्मण शरीर का भी अन्त हो जायेगा—तब तो एकान्त से अनादित्व का अभाव होगा। बीज वृक्ष विशेषपेक्षया अनादिमान् है अतः जैस बीज-वृक्ष की सन्तति अग्नि से नष्ट हो जाती है-वैसे ही कार्मण शरीर भी ध्यान अग्नि से नष्ट हो जाता है इसलिए साधूक्त है कि किसी प्रकार से वे अनादि हैं और कथंचित् सादि हैं।[7]

2. मूर्त कर्म का अमूर्तिक आत्मा से बंध में अनेकान्त - जैन दर्शन में कर्म को पौद्गालिक माना है। मूर्त कर्मो का अमूर्त आत्मा से बंध कैसे होता है इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यो ने अनेकान्तात्मक शैली में दिया है। जैन तत्व व्यवस्था में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बन्धन बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बंध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बन्धन बद्धता होने से उसका मूर्त कर्मो के साथ बंध हो जाता है।[8]

जिस प्रकार घृत मूलतः दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन

जाने के बाद उसे पुनः दूध में परिणत करना असंभव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलतः पाषाण में पाया जाता है परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे किट्टिमा के साथ मिला पाना असंभव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलतः कर्म बद्ध (सशरीरी) उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार कर्मो से सम्बन्ध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असंभव है। जीव मूलतः अमूर्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मो से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण आत्मा मूलतः अमूर्तिक न होकर कथंचित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मो के साथ बंध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता। इतना अवश्य है कि एक बार मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्तिक हो जाता है, और तब कर्म के साथ उसके बंध होने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता है।[9]

3. भावकर्म और द्रव्यकर्म में कथंचित् भिन्नाभिन्नता— आचार्य विद्यानन्दि ने कर्म के भेदों के सम्बन्ध में लिखा है—

> **कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पतः।**
> **द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।।**
> **भावकर्माणि चैतन्य विवर्त्तात्मानि भान्ति नुः।**
> **क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चिदभेदतः।।**[10]

अर्थात् कर्म दो प्रकार के हैं—1. द्रव्यकर्म, 2. भावकर्म। जीव के दो द्रव्य कर्म हैं, वे पौद्गलिक हैं और उनके अनेक भेद हैं तथा जो भाव कर्म हैं वे आत्मा के चैतन्यपरिणामात्मक हैं क्योंकि कथञ्चित् अभिन्न रूप से स्वसंवेद्य प्रतीत होता हैं और वे क्रोधादि रूप है।

द्रव्य-कर्म के सम्बन्ध में आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है—'**यथा भाजन विशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिरा भावेन परिणामः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्म भावेन परिणामो वेदितव्यः**'।[11]

जिस प्रकार पात्र विशेष में रखे गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों

का मद्य रूप में परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों तथा मन, वचन, काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन रूप योग के कारण कर्म रूप परिणमन होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि भाव-कर्म द्रव्य-कर्मो को प्रभावित करते हैं और द्रव्य-कर्म भाव-कर्म को प्रभावित करते हैं। दोनों की एक ऐसी सन्धि है कि दोनों एक-दूसरे को जीवनी शक्ति प्रदान कर रहे हैं।

भावकर्म के द्वारा द्रव्यकर्म का आकर्षण होता है। भावकर्म है—जैविक रायनिक प्रक्रिया। जीव में होने वाली रासायनिक प्रक्रिया और द्रव्यकर्म सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है। एक जैविक है और एक पौद्गलिक। दोनों में सम्बन्ध स्थापित होता है। दोनो प्रकियाएं एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया का योग है। सूक्ष्म शरीर की रसायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग है इसीलिए सम्बन्ध स्थापित होता है। यदि दोनों के सम्बन्ध न हो तो वह एक-दूसरे को प्रभावित नही कर सकते। रसायन दो प्रकार के होते हैं— बाहरी रसायन और भीतरी रसायन। दोनों प्रकार के रसायन आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।[12]

कर्म की दृष्टि से भाव और द्रव्य कर्म समान हैं परन्तु भावकर्म कथञ्चित् आत्मिक हैं और द्रव्य कर्म कथञ्चित् पौद्गलिक। इनमें कार्य-कारण भाव है। भावकर्म द्रव्यकर्म का कारण है और द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है।

4. कर्मबन्ध में एकानेकात्मकता - कर्म के परमाणु अपने आप व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। जीव अपनी प्रवृत्ति के द्वारा कर्म परमाणु स्कन्धों को आकर्षित करता है, अपने साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और वह सम्बन्ध बहुत गहरा हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।।[13]

जीव मिथ्यात्व आदि परिणामों का निमित्त पाकर पुद्‌गलो का कर्मरूप परिणमन करता है और पुद्‌गल कर्म के निमित्त से जीव भी मिथ्यात्व आदि रूप परिणमता है।

'तत्त्वार्थसूत्र' में बंध को परिभाषित करते हुए लिखा है–

सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान पुद्‌गलानादत्ते स बन्धः' [14]

अर्थात् जीव सकषाय होने से कर्म योग्य पुद्‌गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

बन्ध दो प्रकार का है–एक भाव बन्ध और दूसरा द्रव्य-बन्ध। जिस राग, द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है उन भावों को भाव-बन्ध कहते हैं। कर्म-पुद्‌गलों का आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध हैं।

भाव बन्ध–नोकर्म बन्ध और कर्म बन्ध के भेद से दो प्रकार का है। माता-पिता-पुत्र आदि का स्नेह सम्बन्ध नोकर्म है। जो कर्म बन्ध है उसको पुनर्भविक कर्म बन्ध सन्तति का सद्‌भाव होने से सादि, सान्त और पूर्णतया नाश न होने से अनादि अनन्त जानना चाहिए क्योंकि बीज और अकुर के समान इसके प्रादुर्भाव की सन्तान चलती रहती है।

कर्म बन्ध के चार भेद भी बताये गये हैं–प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध।[15] आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है–

कम्मं जोग णिमित्तं बज्झइ बंधट्ठिइ कसायवसा।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंधट्ठिइ कारणं णत्थि।।[16]

मन, वचन और शरीर के व्यापार से उत्पन्न आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन रूप योग से कर्म ग्रहण किये जाते हैं तथा क्रोध, अहंकार, माया और लोभ रूप कषाय से बन्ध की स्थिति निर्मित होती है। परन्तु उपशान्त कषाय तथा क्षीण कषाय (ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में) की अवस्था में कर्मबन्ध की स्थिति का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता।

बंध सामान्य की अपेक्षा समानता होते हुए भी विशेष की अपेक्षा से इनमें अन्तर है। कषाय के योग से स्थिति और अनुभाग बन्ध तथा योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध।

बन्ध के एक से लेकर संख्यात तक भेद होते हैं। उनमें सामान्य से कर्म बन्ध एक है। विशेषों की अपेक्षा नहीं होने से सेना और वन के समान। जैसे सैनिक, हाथी, घोड़ा आदि भेदों की विवक्षा न होने से समुदाय की अपेक्षा सेना एक कही जाती है, अशोक, तिलक, बकुल आदि वृक्षों की भेद विवक्षा न होने से सामान्यतया वन एक कहा जाता है, उसी प्रकार भेदों की विवक्षा न करने पर सामान्यतया कर्म बंध एक ही प्रकार का है। उसी प्रकार पुण्य और पाप के भेद से कर्म बन्ध भी दो प्रकार का है। अनादि-सान्त, अनादि-अनन्त और सादि-सान्त के भेद से कर्मबन्ध तीन प्रकार का है। प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। पृथ्वी आदि छह काय के जीवों के भेद से छह प्रकार का कहा गया है। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कारण के भेद से बन्ध सात प्रकार की वृत्ति का भी अनुभव करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—आठ प्रकार के कर्मो के विकल्प संख्यात विकल्प हैं, क्योंकि कर्म शब्द के वाचक शब्द संख्यात ही हैं। विकल्प की अपेक्षा असंख्यात हैं। अनन्तानन्त प्रदेश स्कन्ध के परिणमन विधि की अपेक्षा कर्मबन्ध अनन्त है।[17]

5. पुण्य तथा पाप कथंचित् सदृश है, कथंचित् असदृश— आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है, जैसे सोने से निर्मित बेड़ी हो चाहे लोहे की, दोनों ही तरह की बेड़ियॉ पुरुष को साधारण रूप से जकड़ कर रखती हैं। इसी प्रकार चाहे शुभ कर्म हो या अशुभ कर्म वह साधारण रूप से जीव को संसार में रखता है।[18]

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है, जैसे सातावेदनीय आदि तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है, जैसे असातावेदनीय आदि।[19]

पुण्य दो प्रकार का है– एक जीव पुण्य , दूसरा अजीव पुण्य। जो जीव पुण्य-भाव अर्थात् शुभ-भाव से युक्त हो वह जीव पुण्य है। जो पुद्गल पुण्य भाव से युक्त हो वह अजीव पुण्य है। पुण्य का पर्यायवाची शुभ भी है। इसलिए पुण्य भाव को शुभ भाव भी कहते हैं।[20]

जीव तीन प्रकार के हैं– 1. बहिरात्मा, 2. अन्तरात्मा, 3. परमात्मा। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। अरहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं। इनमें से बहिरात्मा पाप जीव हैं। अन्तरात्मा पुण्य जीव हैं। परमात्मा पुण्य-पाप से रहित हैं।

'मोक्ष पाहुड' में लिखा है–व्रत और तप रूप शुभ भावों से (पुण्य भावों से) स्वर्ग प्राप्त होना उत्तम है तथा अव्रत और अतप (अशुभ भाव, पाप भाव) से नरक में दुःख प्राप्त होना ठीक नहीं है, वैसे ही व्रत (शुभ) और अव्रत (अशुभ) पालने वालों में महान् अन्तर है।[21]

पुण्य और पाप दोनों ही भाव विभाव हैं, आत्मा के चरित्र गुण की विकारी पर्यायें हैं, अतः विकार-विभाव की अपेक्षा दोनों में साम्य है। जैसे चाहे लोहे की बेड़ी हो या सोने की बेड़ी पर है तो बेड़ी ही। इसलिए दोनों सदृश हैं। इसी तरह पुण्य तथा पाप रूप द्रव्य कर्म भी आत्मा से परत्व की अपेक्षा समान हैं। कर्म तो परद्रव्य ही है, चाहे पाप कर्म हो या पुण्य कर्म, पर हैं तो कार्मण वर्गणा की पर्याय ही। इस तरह पुण्य-पाप कथंचित् सदृश हैं, क्योंकि दोनों ही संसार के कारण हैं परन्तु इनके फल में भिन्नता देखी जाती है अतः कथंचित् भिन्नता है।

आचार्य अकलंक के अनुसार पुण्य-पाप को सर्वथा एंक रूप कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतंत्रता के कारण हैं तथापि इष्ट फल और अनिष्ट फल में निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रियों के विषय आदि का निवर्त्तक कारण है वह पुण्य है तथा अनिष्ट गति, जाति, शरीर इन्द्रियों के विषय आदि पाप हैं। इनमें शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग

पाप आस्रव का।[22]

आचार्य अमितगति ने लिखा है जो मूढ़ पुण्य-पाप दोनों के विशेष भेद को अथवा दोनों में अविशेष-अभेद को नहीं जानता वह चारित्र से परिभ्रष्ट है और संसार का परिवर्द्धक है, भव-भ्रमण करने वाला दीर्घ संसारी है।[23]

6. कर्मसिद्धान्त में पंच समवाय की मान्यता — जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ-इन पांच समवाय को स्वीकार किया गया है।[24] सांमान्यतः नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ये पांच कारण नियम से होते हैं। स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। पुरुषार्थ से जीव का बल वीर्य लिया गया है। काल से स्वकाल और परकाल का ग्रहण किया गया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलाई गई है और कर्म से बाह्य निमित्त का ग्रहण किया गया है।

अष्ट सहस्री, (पृ. 257) में भट्टाकलंकदेव ने एक श्लोक लिखा है–

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।

जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है और उसे सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

भवितव्यता क्या है? जीव की समर्थ उपादान शक्ति नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यता की व्युत्पत्ति है–**'भवितुम योग्यं भवितव्यम, तस्य भावः भवितव्यता।'** जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसी का नाम भवितव्यता है। द्रव्य की समर्थ उपादान शक्ति कार्य रूप से परिणत होने के योग्य होती है इसलिए समर्थ उपादान शक्ति भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित

किया गया है सो प्रकरण के अनुसार उक्त अर्थ करने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यता से उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोक में भवितव्यता को प्रमुखता दी गयी है और साथ में व्यवसाय पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्री को भी सूचित किया गया है सो इस कथन द्वारा उक्त पांचों कारणों का समवाय होने पर कार्य की सिद्धि होती है, यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादान की विशेषता होने से भवितव्यता में गर्भित हैं ही।

यहाँ भवितव्यता के प्रसंग में पुरुषार्थ का भी विचार कर लेना चाहिए। कार्योत्पत्ति में भवितव्यता अन्तरंग (उपादान) कारण है और पुरुषार्थ बहिरंग (निमित्त) कारण है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति दोनों कारणों से होती है। अनेकान्तवादी जैनदर्शन में देव और पुरुषार्थ दोनों का समन्वय किया गया है। देव और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में आप्तमीमांसा में लिखा है—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपे क्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्।।[26]

जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक घटित हो जाता है उसे अपने दैवकृत समझना चाहिए। यहाँ पौरुष गौण है और देव प्रधान है और जो इष्ट या अनिष्ट कार्य बुद्धिपूर्वक घटित होता है उसे अपने पौरुषकृत समझना चाहिए। यहाँ दैव गौण है और पौरुष प्रधान है।

इस विषय में **आचार्य अकलंकदेव** ने 'अष्टशती' में लिखा है—**योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थ सिद्धिः। तदन्यतरापायेऽघटनात।**

अर्थात् योग्यता अथवा पूर्व कर्म दैव कहलाते हैं। ये दोनों अदृष्ट हैं तथा इस जन्म में किये गये पुरुष व्यापार को पौरुष कहते हैं। यह दृष्ट होता है। इन दोनों से अर्थ की सिद्धि होती है और इन दोनों में से निजी एक के अभाव में अर्थ की सिद्धि नहीं होती है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है कि काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत (हमारा किया हुआ) और पुरुषार्थ—ये पांच तत्त्व हैं। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये

पाँचों सापेक्ष हैं। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएँ खड़ी हो जायेंगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने-अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कुँए में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धान्त है दुनिया का। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है। यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। इसलिए इसे कहा जाता है—पुराकृत। इसका अर्थ है पहले किया हुआ। पॉचवा तत्त्व है—पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ दो नहीं, एक ही हैं। एक ही तत्त्व के दो भाग हैं। इनमें अन्तर इतना है कि वर्तमान का पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ कर्म कहलाता है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुषार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है।

ये पाँच तत्त्व हैं, पॉचों सापेक्ष हैं। सर्वशक्तिमान एक भी नहीं। सबकी शक्तियां सीमित हैं, सापेक्ष हैं। इसी आधर पर हम कह सकते हैं कि हम स्वतंत्र भी हैं और परतंत्र भी हैं।[27]

7. कथंचित् कर्म का कार्य निमित्त जुटाना "है" कथंचित् "नहीं है"— हमारे कर्मो का बाहरी सामग्री तथा दूसरे प्राणी पर असर पड़ता भी है और नहीं भी, ऐसा अनेकान्त है एकान्ततः नियम नहीं है। हमारा कर्मोदय निमित्त मात्र होता है, जैसे पण्डित दौलतराम ने कहा है—"**भवि भागन वच**

जोगे वशाय, तुम धुनि है सुनि विभ्रम नशाय'' यहाँ भव्य जीवों का भाग्य ध्वनि के खिरने में निमित्त हुआ और वचन योग से निकली वचन-वर्गणाएँ भव्य जीवों के भ्रम दूर करने में कारण हुई। चक्रवर्ती गणधरादि की शंका के निमित्त से भी भगवान् की वाणी खिर जाती है। इस प्रकार अनेक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। मनुष्य स्वयं खोटा या अच्छा अपने कर्मोदय या विचारों से होता है किन्तु उसकी संगति का दूसरों पर भी असर पड़ता है। कहा भी है–**''जब लौ नहीं शिव लहूँ, तब लौं देहु यह धन पावना। सतसंग सुद्धाचरण श्रुत अभ्यास आतम भावना।''** यहां पर सर्वप्रथम सत्संग पाने की भावना है।

प्रद्युम्न-चरित्र में यह कथन है कि जो दुःख-दायक सामग्री थी वही सामग्री पुण्योदय के कारण सुख को उत्पन्न कराने वाली हो गई। सास ने घड़े में सर्प डाला, किन्तु पुण्योदय से वह सर्प फूलमाला बन गया। इन सब कथनों से स्पष्ट है कि पुण्य कर्म के निमित्त (कारण) से बाह्य सामग्री जुट जाती है।

इस प्रकार कर्म का कार्य निमित्त जुटाना है। क्वचित् नहीं जुटाना भी है, एकान्ततः कुछ नियम नहीं हैं। षट्खण्डागम तथा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि सातावेदनीय कर्मोदय से बाह्य सामग्री मिलती है।[28] पर सर्व कर्म उदित होकर बाह्य सामग्री जुटाने में हेतु होते ही हैं, ऐसा एकान्त नहीं है।

कथंचित् कर्म जीव स्वभाव का पराभव करते हैं, कथंचित् नहीं करते– यदि स्वतः, अकारण, स्वयं के कारण से ही जीव के स्वभाव का पराभव होता है तो वह सिद्धों में भी होना चाहिए। क्योंकि कारण तो कुछ मिलाना ही नहीं पड़ रहा है अतः सिद्ध है कि कर्म जीव स्वभाव का पराभव करते हैं। प्रवचनसार में कहा भी है, जैसे ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तैल के स्वभाव का पराभव करके किया जाने वाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके की जाने वाली मनुष्यादि पर्याय कर्म के कार्य हैं।[29] **परमात्म-प्रकाश** में भी इसी सन्दर्भ में कहा है–''दुक्खु वि सुक्खु वि बहु विहउ, जीवहं कम्मु जणेइ'', अर्थात् जीव के अनेक तरह से सुख और दुःख को कर्म ही उपजाता है। इस प्रकार कर्म अनादि से जीव स्वभाव का पराभव कर रहे हैं यह कथंचित् सत्य है। परन्तु ये ही कर्म

अन्तरंग कारण बनकर जीव स्वभाव का पराभव नहीं करते, इस दृष्टि से कथंचित पराभव नहीं भी करते हैं अथवा सिद्धों के स्वभाव का पराभव कर्म नहीं कर सकते। इस दृष्टि से भी कथंचित् जीव स्वभाव का पराभव कर्म नहीं भी करते। ज्ञानियों का विलास ही विचित्र है। अनेकान्तवाद में किसी को भी बोलने का मौका नहीं मिलता।

8. कर्म कथंचित् नष्ट होते हैं, कथंचित नष्ट नहीं होते – अष्ट कर्म नष्ट किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस सिद्धान्त वचन से जाना जाता है कि कर्म नष्ट होते हैं, क्योंकि अनेक परमात्माओं ने कर्म नष्ट कर मोक्ष प्राप्त किया ही है। कथंचित् कर्म नष्ट नहीं होते। इस कथन का अभिप्राय यह है कि सकल कर्म पर्याय का विनाश होने पर भी कर्म द्रव्य का विनाश नहीं होता। वह कर्म द्रव्य अकर्म पर्याय रूप परिणमन कर जाता है अर्थात् पुद्गल द्रव्य वर्गणाएँ ही आत्मा के रागादि भाव का आश्रय लेकर कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं और आत्मा को परतंत्र बना देती हैं। कदाचित् उस आत्मा से अलग होकर कर्मत्व अवस्था को छोड़कर पुनः अकर्म पुद्गल रूप हो जाती है, जैसे कि मणि से मल द्रव्य का मलात्मक पर्याय रूप से विनाश हो जाने पर भी अमलात्मक (अन्य पुद्गल) पर्याय रूप से परिणमन हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि कथंचित् (अर्थात् पर्याय की अपेक्षा कर्म नष्ट होते हैं, कथंचित् द्रव्यपन की अपेक्षा) कर्म नष्ट नहीं होते हैं।[10]

कर्म सिद्धान्त का सम्यग्दर्शन – जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है और वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। अपने कर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता भी वही है किन्तु अनादि से कर्म परतन्त्र होने के कारण वह अपने स्वभाव को भूला हुआ है। इस कारण वह किसी आपत्ति के आने पर 'करम गति टाली नाहि टलौ, विधि का विधान ऐसा ही है, 'भवितव्यता दुर्निवार है' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करता है। यह तो वही हुआ कि जब जैन-दर्शन ने ईश्वर की दासता से मुक्ति दिलाई तो कर्म की दासता स्वीकार कर ली। यथार्थ में कर्म की गति अटल नहीं है। उसे हम अपने पुरुषार्थ से टाल सकते हैं। उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कर्म की

विविध अवस्थाएं हमारे पुरुषार्थ के अधीन हैं अतः कर्म का सम्यग् दर्शन करके हमें अनुकूल सत्पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने लिखा है–'अनेकान्त कोरा दर्शन नहीं है, यह साधना है। एकांगी आग्रह राग और द्वेष से प्रेरित होता है। राग-द्वेष क्षीण करने का प्रयत्न किये बिना एकांगी आग्रह या पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति नहीं पायी जा सकती। जैसे-जैसे अनेकान्त दृष्टि विकसित होती है, वैसे-वैसे राग-द्वेष क्षीण होता है। जैनदर्शन ने राग-द्वेष क्षीण करने के लिए अनेकान्त दृष्टि प्रस्तुत की।[31] इसी आलोक में आज सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक क्षेत्रों में राग-द्वेष को नष्ट कर अनेकान्त को अपनाने की आवश्यकता है। जैन दर्शन का कर्मवाद आज अनेक समस्याओं से निजात दिलाने में समर्थ है।'

सन्दर्भ

1 न्याय सूत्र 4/1 ईश्वर. कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्, 2 साख्य सूत्र 5/25 अन्त करणधर्मत्व धर्मादीनाम्, 3 अभिधर्म कोष 4/1 कर्मज लोकवैचित्र्य चेतना मानस च तत्, 4 न्यायमञ्जरी, पृ 279, 5 प्रवचनसार की टीका, पृ 165, 6 तत्त्वार्थसूत्र, 2/41, 7 आचार्य अकलक तत्त्वार्थवार्तिक, प्रथम भाग, पृ 404-405, 8 द्रव्यसग्रह गाथा-7, 9 कर्म सिद्धान्त 38, 10 आप्त परीक्षा 113,114, 11 तत्त्वार्थवार्तिक 8/2 की टीका, द्वितीय भाग, पृ 450, 12 आचार्य महाप्रज्ञ कर्मवाद, पृ 28, 13 समयसार 80, 14 तत्त्वार्थसूत्र 8/2, 15 वही 8/3, 16 सन्मति तर्क 1/19, 17 आचार्य अकलक-तत्त्वार्थवार्तिकम्, द्वितीय भाग, पृ 461,

18 सौवाण्णिय पि णियल बधदि कालायस पि जह पुरिसं।
बधदिऽएव जीव सुहमसुह वा कद कम्म।। –समयसार 153

19 पुनात्मात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद् वेद्यादि। पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पाप। तत्सद्वेद्यादि। सवार्थसिद्धि, पृ 245,

20. "जीविदरे कम्मचपे पुण्ण पावोत्ति होदि पुण्ण तु"। गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा 643

21 वर वयतेवहि सग्गो मा दुक्ख होउ णिरई इयरेहि
छायातवट्ठियाण पडिवालताण गुरुभेय।। मोक्षपाहुड गाथा 25

22 तत्त्वार्थवार्तिक द्वितीय भाग, पृ 254,

23 य पुण्यपापयोर्मूढो विशेषं नावबुध्यते।
स चरित्र परिभ्रष्ट ससार परिवर्धका.।। –योगसार प्राभृत 3/37

24 कालो सहाव णियई, पुव्वकय कारणेगंता।
मिच्छत्त ते चेव उ समासमो होति सम्मत्त।। –सन्मति प्रकरण 3/53

25 प फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ 212, 26. आप्तमीमासा-91,

27. आचार्य महाप्रज्ञ कर्मवाद, पृ 130, 28 धवला 6/36, धवला 13, मोक्षमार्ग प्रकाशक 2/36
29. यथा खलु ज्योति स्वभावेनतैलस्वभावमभिभूय क्रियमाण· प्रदीपो ज्योति कार्य तथा कर्मस्वभावेन जीव स्वभावभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्याया कार्यम्।। 117 --प्रवचनसार टीका आ अमृतचन्द
30 अष्टसहस्त्री-प्रथम परिच्छेद 141।
31. आचार्य महाप्रज्ञ जैनदर्शन, मनन और मीमासा-प्रस्तुति, पृ 4।

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1 आचार्य कुन्दकुन्द–समयसार, प्रवचनसार प्रकाशक–परम श्रुत प्रभावक मण्डल, अगास
2 आचार्य उमास्वामि–तत्त्वार्थसूत्र, प्रकाशक–गणेश वर्णी शोध सस्थान, वाराणसी
3 आचार्य अकलक–तत्त्वार्थवार्तिक–प्रथम एव द्वितीय भाग, प्रकाशक–दुलीचन्द, प्रदीपकुमार, यूनिवर्सल, एजेन्सीज, देरगाव (आसाम)
4 आचार्य नेमिचन्द्र–द्रव्यसंग्रह, प्रकाशक–परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास
5 आचार्य विद्यानन्दि–आप्त परीक्षा, प्रकाशक–अ भा अनेकान्त विद्वत परिषद्
6 आचार्य महाप्रज्ञ–कर्मवाद, प्रकाशक–आदर्श साहित्य, सघ, चूरू (राजस्थान)
7 सन्मति तर्क–सम्पादक-प देवेन्द्र कुमार शास्त्री, प्रकाशक –ज्ञानोदय ग्रंथ प्रकाशन, नीमच (म प्र)
8 आचार्य पूज्यपाद–सर्वार्थसिद्धि, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
9 आचार्य नेमिचन्द–गोम्मटसार जीवकाण्ड, प्रकाशक–परमश्रुत मण्डल, अगास
10 आचार्य अमितगति–योगसार प्राभृत, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
11 आचार्य समन्तभद्र–आप्तमीमासा,' प्रकाशक–गणेशवर्णी शोध-सस्थान, वाराणसी
12 आचार्य विद्यानन्दि–अष्टसहस्त्री, प्रकाशक–ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, हस्तिनापुर (मेरठ)
13 आचार्य महाप्रज्ञ–जैनदर्शन, मनन और मीमासा, प्रकाशक–आदर्श साहित्य सघ, चूरू

विभागाध्यक्ष
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म दर्शन विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)
लाडनूं-341306 (राज.)

नैष्ठिक श्रावक : एक अनुचिन्तन

-डॉ. जयकुमार जैन

श्रावक शब्द का अर्थ – श्रावक शब्द का सामान्य अर्थ श्रोता या सुनने वाला है। जो जिनेन्द्र भगवान् के वचनों को एवं उनके अनुयायी गुरूओं के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सावधानी से सुनता है, वह श्रावक है। कहा भी गया है–

"अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धसम्पत् परं समाचारमनुप्रभातम्।
शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः।।"[1]

अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध सम्पत्ति को प्राप्त जो व्यक्ति प्रातःकाल से ही साधुजन से उनकी समाचार विधि को आलस्य रहित होकर सुनता है, जिनेन्द्र भगवानों ने उसे श्रावक कहा है। श्रावक शब्द की एक निरुक्ति भी प्राप्त होती है, जिसमें श्र, व और क वर्णो को क्रमशः श्रद्धा, विवेक और क्रिया का प्रतीक मानकर श्रद्धावान् विवेकशील एवं अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहा गया है। यथा–

"श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवित।"[2]

अर्थात् श्रावक शब्द में प्रयुक्त 'श्रा' शब्द तत्त्वार्थश्रद्धान की सूचना देता है, 'व' शब्द सप्त धर्म क्षेत्रों में धन रूपी बीजों को बोने की प्रेरणा करता है और 'क' शबद क्लिष्ट कर्म या महान् पापों को दूर करने की सूचना देता है। इस प्रकार से कर्मधारय समास करने पर निरुक्ति के रूप में श्रावक शब्द निष्पन्न हो जाता है। कुछ विद्वानों ने इसी निरुक्त्यर्थ का पल्लवन अधोलिखित श्लोक में इस प्रकार किया है–

"श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनं दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणः।।"[3]

अभिप्राय यह है कि जो श्रद्धालु जैन शासन को सुनता है, दीन जनों में अर्थ को तुरन्त प्रदान करता है एवं सम्यग्दर्शन का वरण करता है तथा सुकृत एवं पुण्य करके संयम का आचरण करता है, चतुर लोग उसे श्रावक कहते हैं।

श्रावक के लिए प्रयुक्त पर्यायवाची – व्रती गृहस्थ को श्रावक शब्द के अतिरिक्त विविध श्रावकाचारों में उपासक, सागार (आगारी), देशसंयमी (देश विरती/अणुव्रती) आदि नामों का भी उल्लेख हुआ है। रत्न-करण्डश्रावकाचार में श्रावक को मोक्षमार्गस्थ गृहस्थ कहकर निर्मोही होने की दशा में उसे मोही मुनि से भी श्रेष्ठ माना गया है–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।[4]

सामान्यतः उपासक, सागार और देशसंयमी शब्द पर्यायवाची माने गये हैं, तथापि योगार्थ की दृष्टि से इन शब्दों में अपना-अपना वैशिष्ट्य छिपा है। जो अपने अभीष्ट देव एवं गुरु की उपासना करता है, वैयावृत्ति और आराधना करता है वह उपासक कहलाता है। गृहस्थ व्यक्ति वीतराग देव की आराधना करता है एवं निर्ग्रन्थ गुरूओं की वैयावृत्ति करता है तथा यथाशक्ति व्रतों को धारण करता है, अतः उसे उपासक कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रावक के लिए उपासक शब्द प्राचीन काल में बहुशःप्रचलित रहा है। इसी कारण व्रती गृहस्थ के आचार विषयक ग्रन्थों का नाम प्रायः उपासकाध्ययन या उपासकाचार रहा है। स्वामी समन्तभद्र द्वारा विरचित रत्नकरण्डक को भी उसके संस्कृत टीकाकार आ. प्रभाचन्द्र ने 'रत्नकरण्डकनाम्नि उपासकाध्ययने' वाक्य में रत्नकरण्डक नामक उपासकाध्ययन ही कहा है। घर में रहने के कारण गृहस्थ श्रावक की सागार संज्ञा है। इसे गेही, गृही, गृहमेधी नाम भी प्रयुक्त हुये हैं। यहाँ गृह वस्त्रादि के प्रति आसक्ति का उपलक्षण प्रतीत होता है। अणुव्रत रूप देशसंयम को धारण करने के कारण श्रावक को देशसंयमी, देशव्रती या अणुव्रती भी कहा गया है। इसका संयतासंयत नाम से भी उल्लेख हुआ है।

श्रावक धर्म प्रतिपादन के आधार – जैन वाङ्मय में चारित्र का प्रतिपादन

करने वाले ग्रन्थों में श्रावक धर्म का प्रतिपादन निम्नलिखित आधारों पर प्राप्त होता है–

1. प्रतिमाओं के आधार पर
   (क) चारित्रपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द
   (ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय
   (ग) श्रावकाचार में आचार्य वसुनन्दि
2. बारह व्रत एवं सल्लेखना के आधार पर
   (क) तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी
   (ख) रत्नकरण्डश्रावकचार में आचार्य समन्तभद्र

   यद्यपि समन्तभद्राचार्य ने प्रतिमाओं का भी वर्णन किया है, किन्तु उनके श्रावक धर्म प्रतिपादन का आधार बारह व्रत एवं सल्लेखना ही है। ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन तो उन्होंने बाद में किया है, जिनकी संगति बैठाने के लिए ही आचार्य प्रभाचन्द्र ने उत्थानिका में लिखा है–"साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमाः भवन्तीतयाशङ्कयाह।"[5]
3. पक्ष, चर्या और साधन के आधार पर
   (क) महापुराण में पर्व 39 में आचार्य जिनसेन
   (ख) सागार धर्मामृत में पं. आशाधर

श्रावक के भेद – सागार धर्मामृत में श्रावक के तीन भेद किये गये हैं-पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।[6] धर्मसंग्रहश्रावकचार आदि में भी श्रावक के इन तीन भेदों को स्वीकार किया गया है। इन तीन भेदों का मूल आधार आचार्य जिनसेन द्वारा कथित पक्ष, चर्या एवं साधन रूप से श्रावक धर्म है। महापुराण में आशंका की गई है कि षट्कर्मजीवी द्विजन्मा जैनी गृहस्थ है, उनके भी हिंसा दोष का प्रसंग होगा? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि हॉ होगा, क्योंकि गृहस्थ अल्प सावद्य का भागी तो होता ही है। परन्तु शास्त्र में उसकी शुद्धि भी बतलाई गई है। शुद्धि के तीन प्रकार हैं–पक्ष, चर्या और साधन। समस्त हिंसा का त्याग करना जैनों का पक्ष है। उनका यह पक्ष मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य रूप चार भावनाओं से वृद्धिंगत होता है। देवता की आराधना

के लिए या मंत्र की सिद्धि के लिए, औषधि या आहार के लिए मैं कभी किसी भी प्राणी को नहीं मारूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा को चर्या कहते हैं। इस प्रतिज्ञा में यदि कभी कोई दोष लग जाय तो प्रायश्चित के द्वारा उसकी शुद्धि बतलाई गई है। पश्चात् अपने सब कुटुम्ब और गृहस्थाश्रम का भार पुत्र पर डालकर घर त्याग कर देना चाहिए। यह गृहस्थों की चर्या कही गई है। जीवन के अन्त में अर्थात् मरण के समय शरीर, आहार और सर्व इच्छाओं का परित्याग करके ध्यान की शुद्धि द्वारा आत्मा के शुद्ध करने को साधन कहते हैं। अर्हन्तदेव के अनुयायी द्विजन्मा गृहस्थ को इन पक्ष, चर्या और साधन का पालन करते हुए हिंसादि पापों का स्पर्श भी नही होता है। इस प्रकार ऊपर की गई आशंका का परिहार हो जाता है।[7]

कदाचित् यह विवेचन ही श्रावक के विविध भेदों का आधार बना तथा इसी के आधार पर पं. आशाधर ने सागारधर्मामृत में तथा पश्चातवर्ती अन्य अनेक श्रावकाचारों में श्रावक के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिसको जैन धर्म का पक्ष होता है वह पाक्षिक, जो व्रतों में अभ्यस्त हो जाता है वह नैष्ठिक तथा जो समाधिमरण का साधन करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।

नैष्ठिक श्रावक का स्वरूप – नैष्ठिक शब्द निष्ठा शब्द से निष्पन्न हुआ है। जो श्रावक पूरी निष्ठा से व्रतों का पालन करता है, वह नैष्ठिक कहलाता है। नैष्ठिक श्रावक के स्वरूप का विवेचन करते हुए पं. आशाधर ने कहा है–

"देशयमघ्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः।
दर्शनकाद्येकादशदशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः।।"[8]

अर्थात् देशसंयम का घात करने वाली कषायों की क्षयोपशम की क्रमशः वृद्धि के वश से श्रावक के दार्शनिक आदि ग्यारह संयम स्थानों के वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कहा गया है कि दोषों का प्रायश्चित करके पुत्र पर कुटुम्ब का भार सौंपकर गृहत्याग करने वाले के नैष्ठिक धर्म उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शनादि तथा दश धर्मों का एक देश पालन करने वाला नैष्ठिक

श्रावक कहलाता है। वह साधक के उच्च पद को इच्छुक होता है।[9] श्री अभ्रदेव का कहना है कि जो गुरुओं की साक्षी से व्रतों को ग्रहण करके जीवन भी पालता है। इस प्रकार की निष्ठा वाली आत्मा को नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।[10]

पाक्षिक श्रावक के विशेष रूप से जिन धर्म का पक्ष होता है, किन्तु कुलाचार के रूप में वह भी व्रतों का पालन तो करता ही है। नैष्ठिक श्रावक में इतनी विशेषता अवश्य होती है कि वह व्रतों का निरतिचार परिपालन करता है, जबकि पाक्षिक श्रावक में कदाचित् दोष लग जाते हैं। पं. आशाधर ने कहा है–

"दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः।
स्खलन्नापिक्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः।।"[11]

अभिप्राय यह है कि कृष्ण, नील एवं कापोत दुर्लेश्याओं में से किसी के वेग से किसी समय इन्द्रिय के विषय में उत्कण्ठित तथा मूल गुण में अतिचार लगाने वाला गृहस्थ पाक्षिक तो हो सकता है, नैष्ठिक ऐसा नही हो सकता है।

व्रतोद्योतन श्रावकाचार में चार निक्षेपों के द्वारा श्रावकों के चार भेद करते हुए कहा गया है कि जिन पुरुषों ने व्रतों को धारण नहीं किया है किन्तु गुरूजनों से व्रत आदि की चर्चा सुनते हैं, वे नाम श्रावक हैं। जो गुरूजनों से व्रत आदि को ग्रहण करके भी पालते नही हैं, वे स्थापना श्रावक हैं। जो श्रावक के आचार से युक्त हैं, दान पूजन आदि करते हैं, वे द्रव्य श्रावक हैं। जो भाव से व्रतों से सम्पन्न हैं और श्रावकाचार के पालन में सदा जागरूक रहते हैं, वे भाव श्रावक हैं।[12] नैष्ठिक श्रावकों की गणना भावश्रावकों में की गई है। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि जब तक सम्यग्दर्शन प्रकट नही हुआ है, तब तक व्रतों का पालन करने वाला भी द्रव्य श्रावक ही है। भाव श्रावक तो नियम से सम्यग्दर्शन सम्पन्न ही होता है। पं. आशाधर जी ने जैनत्व के गुणों से रहित नाम मात्र के जैन को भी अजैन लोगों से श्रेष्ठ कहा है तथा नाम की अपेक्षा स्थापना जैन को, स्थापना जैन की अपेक्षा द्रव्य जैन को तथा उसकी भी अपेक्षा भाव जैन को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ महापुरुष कहा है।[13]

नैष्ठिक श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ – नैष्ठिक श्रावक की निचली दशा से क्रमशः ऊपर उठती हुई ग्यारह श्रेणियां होती है, जिन्हें चारित्र विषयक ग्रन्थों

में ग्यारह प्रतिमायें कहा गया है। स्वामी कार्तिकेय के अनुसार ग्यारह प्रतिमायें इस प्रकार हैं—1. दार्शनिक, 2. व्रतिक, 3. सामायिकी, 4. प्रोषधोपवासी, 5. सचित्तविरत, 6. रात्रिमुक्तिविरत, 7. ब्रह्मचारी, 8. आरम्भविरत, 9. परिग्रहविरत, 10. अनुमतिविरत 11. उद्दिष्ट-विरत।[14] पं. आशाधर, आचार्य अमितगति और श्री नामदेव आदि ने छठी रात्रिमुक्तिविरत प्रतिमा के स्थान पर दिवामैथुनत्याग प्रतिमा को स्वीकार किया है।[15] समन्तभद्राचार्य के अनुसार आगे-आगे की श्रेणी पूर्व गुण को लिये हुए वृद्धि को प्राप्त होती है अर्थात् इनमें क्रम का उल्लंघन नही होता है।[16]

दिगम्बर परम्परा में श्री सोमदेव को छोड़कर सभी ने सचित्तत्याग को पाँचवीं प्रतिमा और आरंभत्याग को आठवीं प्रतिमा माना है। परन्तु सोमदेव ने इन्हें परस्पर परिवर्तित करके सचित्तत्याग को आठवीं प्रतिमा कहा है तथा कृषि आदि आरंभ के त्याग को पाँचवीं प्रतिमा कहा है।[17] सोमदेव का यह कथन तार्किक और युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि सचित्त भोजन और स्त्रीसेवन का त्यागी होने के पश्चात् कोई कृषि आदि आरंभ वाली क्रियाओं को कैसे कर सकता है? इसी कारण उन्होंने आरंभत्याग के स्थान पर सचित्तत्याग और सचित्तत्याग के स्थान पर आरंभत्याग प्रतिमा को कहा है।

श्री पं. गोविन्द द्वारा प्रणीत पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार में श्रावक की प्रतिमाओं को क्रम से तथा अक्रम से भी धारण करने का विधान किया गया है, जबकि अन्य सभी श्रावकाचारों में क्रम से ही प्रतिमाओं को धारण करने का स्पष्ट विधान किया गया है। पं. गोविन्द ने कहा है—

> **''सुदृष्टिः प्रतिमाः काश्चित् क्रमात्काश्चिद्विना क्रमम्।**
> **दधदप्येति संविग्नः कतिचिद्भिः भवैः शिवम्।।''**[18]

अर्थात् कोई दर्शन प्रतिमा का धारक सम्यग्दृष्टि जीव इन प्रतिमाओं को क्रम से धारण करता है और कोई उनको बिना क्रम के भी धारण करता है, फिर भी वह संविग्न श्रावक कुछ भवों में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

ग्यारह प्रतिमाएँ

1. दर्शन प्रतिमा – जो अतिचाररहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, संसार,

शरीर और इन्द्रिय के भोगों से विरक्त है, पञ्च परमेष्ठी के चरणों की शरण को प्राप्त है और तात्त्विक सन्मार्ग को ग्रहण करने में रुचि रखता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक कहलाता है।[19] दर्शन प्रतिमा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पं. गोविन्द ने लिखा है–

"न विना दर्शनं शेषाः प्रतिमा विधृता अपि।
शिवाय नु प्रजायन्ते भवैरपि परःशतैः।।
ज्ञात्वेति दर्शनं धृत्वा निर्मलं विमलाशयैः।
शेषाः धार्याः यथाशक्ति प्रतिमाः प्राणिरक्षकैः।।"[20]

अभिप्राय यह है कि दर्शन प्रतिमा के बिना शेष धारण की गई भी प्रतिमायें सैकड़ों भवों के द्वारा भी मनुष्य को मुक्ति की प्राप्ति के लिए नहीं होती हैं। ऐसा जानकर निर्मल अभिप्राय वाले प्राणियों की रक्षा करने वाले मनुष्यों को निर्मल दर्शन प्रतिमा को धारण करके ही शेष प्रतिमाएँ शक्ति के अनुसार धारण करना चाहिए।

2. व्रत प्रतिमा – इस प्रतिमा का धारक व्रती दर्शन प्रतिमा में कथित गुणों का पालन करता हुआ पञ्चाणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है, तीन गुण-व्रतों तथा चार शिक्षाव्रतों का भी निःशल्य होकर निरतिचार पालन करता है। समन्तभद्राचार्य ने कहा है–

"निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः।।"[21]

स्वामी कार्तिकेय ने इन व्रतों के साथ-साथ ज्ञानी होना भी व्रती का लक्षण माना है।[22] लाटी संहिता में दूसरी प्रतिमाधारी के लिए रात्रि में लम्बी दूरी के आने-जाने का निषेध किया गया है तथा घोड़ा आदि सवारी करके दिन में भी गमन करने का निषेध किया गया है। लाटीसंहिताकार का विचार है कि सवारी पर चढ़कर जाने में ईर्या संशुद्धि कैसे संभव हो सकती है?[23]

3. सामायिक प्रतिमा – सामायिक नामक तीसरी प्रतिमा का धारी श्रावक चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथाजात रूप से अवस्थित ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक, मन-वचन-काय की

शुद्धि वाला तथा प्रातः मध्याह्न और सायंकाल तीनों संध्याओं में वन्दना करने वाला होता है।[24] महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने सामायिक के स्थान पर सकता शब्द का प्रयोग किया है[25] तथा श्री सोमदेव ने पूजा पर विशेष जोर देते हुए अर्चा शब्द का प्रयोग किया है।[26] सामायिक नामक इस तीसरी प्रतिमा में सामायिक नामक शिक्षाव्रत की पूर्णता तथा उसका निरतिचार परिपालन आवश्यक है। दूसरी प्रतिमा में सामायिक एक शिक्षाव्रत के रूप में थी, इसमें कालिक बन्धन भी नही था। तीसरी प्रतिमा में सामायिक तीनों सन्ध्याओं में आवश्यक मानी गई है। सामायिक का जघन्य काल 2घड़ी (48 मिनट या/मुहूर्त) तथा उत्कृष्ट काल 6घड़ी (2 धण्टा 24 मिनट या 3 मुहूर्त) माना गया है।

समन्तभद्राचार्य ने तीसरी प्रतिमाधारी को यथाजात रूप धारण कर सामायिक करने का निर्देश किया है। चामुण्डराय एवं वामदेव ने भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[27] इससे स्पष्ट होता है कि तीसरी प्रतिमाधारी को सामायिक एकान्त में नग्न होकर करने की परिपाटी रही है।

4. प्रोषधोपवास प्रतिमा – जिस प्रकार प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक के आधार पर तीसरी प्रतिमा अवलम्बित थी, उसी प्रकार प्रोषधोपवास नामक द्वितीय शिक्षाव्रत के आधार पर यह चौथी प्रतिमा अवलम्बित है। जो श्रावक माह के चारों पर्व (अष्टमी एवं चतुर्दशी) के दिनों में यथाशक्ति धर्मध्यान में तत्पर होकर एकाशनपूर्वक उपवास करता है, वह प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी श्रावक है।[28] प्रोषध शब्द का अर्थ समन्तभद्राचार्य ने सकृद्भुक्ति अर्थात् एकाशन किया है। उपवास के दिन श्रावक को सब आरंभ त्यागकर मुनि के समान दिन-रात धर्मध्यान करना चाहिए। इस चौथी प्रतिमा में नियत समय तक प्रोषधोवास का निरतिचार परिपालन आवश्यक माना गया है।

शिक्षाव्रत के अन्तर्गत प्रोषधोपवास अभ्यास रूप था किन्तु चौथी प्रतिमा में पालन अनिवार्य है। स्वामी कार्तिकेय ने शिक्षाव्रत में उपवास की शक्ति न होने पर एक बार नीरस आहार लेने की छूट दी है, पर प्रतिमा में नहीं। आचार्य वसुनन्दी ने चौथी प्रतिमा के स्वरूप में उत्तम, मध्यम एवं जघन्य रूप से 16,12 और 8 प्रहर के उपवास का हीनाधिक शक्ति वाले श्रावकों को विधान किया हे परन्तु शेष सभी ने 16 प्रहर का उपवास आवश्यक माना है।[29]

5. सचित्त विरति प्रतिमा – सभी श्रावकाचारों में सचित्तविरति को पाँचवीं प्रतिमा माना गया है, परन्तु सोमदेव ने इसे आठवीं प्रतिमा मानकर अन्यों द्वारा मान्य आठवीं प्रतिमा आरंभत्याग को पॉचवीं प्रतिमा स्वीकार किया है।

सचित्तविरति प्रतिमा का धारक श्रावक मूल, फल, साक आदि वनस्पति के किसी भी भाग को अग्नि से संस्कारित किये बिना सेवन नही करता है।[30] वह जल भी उबालकर प्रासुक होने पर ही पीता है। स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है कि जो दयालु श्रावक मूल, फल, शाक, शाखा, कोंपल, वनस्पति का मूल, फूल एवं बीजों को अपक्व दशा में नहीं खाता है, वह पञ्चम प्रतिमाधरी सचित्तविरत है।[31] यद्यपि भोगोपभोगपरिमाणव्रत में भी सचित्त भोजन को छुड़ाया गया है, परन्तु वहॉ अतिचार मानकर त्याग कराया गया है, जबकि यहॉ व्रत रूप से उसका निरतिचार त्याग होता है।[32] सचित्तविरति से इन्द्रियसंयम एवं प्राणिसंयम दोनों का परिपालन हो जाता है, क्योंकि उबली वनस्पतियों से स्वादलोलुपता कम हो जाती है।

6. रात्रिभुक्तिविरति/दिवा-मैथुनत्याग प्रतिमा – स्वामी समन्तभद्र का मत है कि जो व्यक्ति प्राणियों पर दयार्द्र चित्र होकर रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेहय चारों प्रकार के आहार को नहीं खाता है वह रात्रिभुक्तिविरत श्रावक है।[33] आचार्य वसुनन्दि ने छठी प्रतिमा को दिवा मैथुनत्याग के रूप में ग्रहण करते हुए कहा है कि जो मन, वचन, काय से कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा नव प्रकार से दिन में मैथुन का त्याग करता है, वह प्रतिमानुकूल गुणों में छठा श्रावक अर्थात् छठी प्रतिमाधारी श्रावक है।[34] रात्रिभोजन करने वाले मनुष्य के तो ग्यारह प्रतिमाओं में पहली प्रतिमा भी नहीं होती है, इसलिए रात्रिभोजन का त्याग तो होना ही चाहिए। भोजन के मध्य गिरा हुआ चर्म अस्थि, कीट-पतंग, सर्प, केश आदि रात में कुछ भी दिखाई नही देते हैं, अतः रात्रिभोजी इन सबको खा जाता है। यदि दीपक जलाया जाता है तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिराग से मोहित होकर भोजन के मध्य गिरते हैं। इस प्रकार के कीट-पतंग युक्त आहार को खाने वाला पुरुष इस लोक में अपने नाश का कारण बनता है और परभय में चतुर्गति एवं संसार के दुःखों को पाता है। इस प्रकार रात्रि भोजन में बहुत प्रकार के दोष जान

करके मन-वचन-काय से रात्रिभोजन का परिहार करना चाहिए।[35] आचार्य जिनसेन छठी प्रतिमा को "अहःस्त्रीसङ्गवर्जनम्" कहकर, आचार्य सोमदेव ने "दिवामैथुनत्याग" एवं "दिवामैथुनविरत" कहकर ही उल्लिखित किया है।[36] अमितगति श्रावकाचार तथा संस्कृत भावसंग्रह में इस प्रतिमाधारी को दिवा ब्रह्मचारी कहा गया है।[37]

लाटीसंहिता में छठी प्रतिमाधारी के लिए रोगादि की शान्ति के लिए रात में गन्ध-माल्य, विलेपन एव तैलाभ्यङ्ग आदि का निषेध किय गया है तथा पं. दौलतराम ने छठी प्रतिमाधारी के लिए रात्रि में गमनागमन तथा अन्य आरंभ कार्यो के करने का निषेध किया है।[38]

छठी प्रतिमा में प्रयुक्त भुक्ति शब्द भोजन एवं सेवन दोनों अर्थो में प्रचलित होने के कारण ही कुछ आचार्यो ने रात्रि मे भोजनत्याग तथा कुछ ने दिवा मैथुन त्याग के रूप में उसका विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, आ. समन्तभद्र आदि ने भुक्ति का भोजन अर्थ मानकर ही इस प्रतिमा का वर्णन किया है, जबकि वसुनन्दि एवं पश्चाद्वर्ती विद्वानों ने दिवामैथुनत्याग के रूप में छठी प्रतिमा का वर्णन किया है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा – समन्तभद्राचार्य के अनुसार जो पुरुष मल बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला, दुर्गन्धयुक्त एवं बीभत्स मानकर स्त्री सेवन से पूर्ण विराम ले लेता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक हैं।[39] इस भूमिका में नैष्ठिक श्रावक मन, वचन, काय से स्त्रीमात्र के संसर्ग का त्याग कर देता है[40] तथा पूर्ण सादगी के साथ जीवन बिताता है। वह गृहस्थी के *कार्यो में प्रायः उदासीन हो जाता है।*

8. आरंभविरति प्रतिमा – *जब सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा मे भोगोपभोग के* प्रधान साधन तथा सचित्त भोजन के पश्चात् वह स्त्री का सर्वथा परित्याग कर देता है। तब धन स्पृहा न रहने से वह आठवीं प्रतिमा में असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि सभी आरंभों का त्याग करके आरंभ विरत नैष्ठिक श्रावक कहलाने लगता है। आचार्य अकलंकदेव ने प्राणघात आदि के लिए कार्य प्रारंभ कर देने को आरंभ कहा है।[41] समन्तभद्राचार्य का कहना है कि आरंभविनिवृत्त

श्रावक जीवहिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरंभ से निवृत्त होता है।[42] स्वामी कार्तिकेय ने इसमें कृत, कारित एवं अनुमोदना का भी समावेश किया है।[43] आरंभविनिवृत्त श्रावक आजीविका छोड़कर पूर्व अर्जित सीमित सम्पत्ति से ही अपना जीवन-यापन करता है।

9. परिग्रहविरति प्रतिमा – समन्तभद्राचार्य के अनुसार जो व्यक्ति बाह्य दशधा परिग्रहों में ममत्व छोड़कर निर्ममत्व से प्रेम करता है, वह परिग्रहविरति प्रतिमा का धारी श्रावक है।[44] वसुनन्दि ने भी कहा है कि जो वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर वाकी परिग्रह का त्याग कर देता है तथा वस्त्र में भी ममत्व नही रखता है, वह नवमी प्रतिमा का धारक श्रावक है।[45]

नवमी प्रतिमा का धारक यद्यपि सब कुछ पुत्रों को सौंपकर गृहस्थी के कार्यो से मुक्त हो जाता है किन्तु उदासीन होकर घर में ही रहता है तथा पुत्रादि के द्वारा परामर्श मागने पर धर्मानुकूल परामर्श भी देता है। परन्तु वह सन्तोष की पराकाष्ठा में जीता है। गुणभूषण ने नवमी प्रतिमाधारी के लिए वस्त्र के अतिरिक्त सभी परिग्रह के त्याग का विधान किया है तथा प. दौलतराम ने अपने क्रियाकोष में उसे काष्ठ एवं मिट्टी का पात्र रखने और धातुपात्र का त्याग करने का स्पष्ट कथन किया है।[46]

10. अनुमति विरति प्रतिमा – दसवीं प्रतिमा का धारी व्यक्ति प्रायः घर में न रहकर मन्दिर, चैत्यालय आदि एकान्त स्थानों में रहता है तथा स्वाध्याय में अपना मन लगाता है। वह घर या साधर्मी बन्धु का निमन्त्रण मिलने पर ही भोजन ग्रहण करता है। समन्तभद्राचार्य के अनुसार आरंभ, परिग्रह अथवा लौकिक कार्यो में जिसकी अनुभोदना भी नही होती है तथा जो समभाव का धारक है, वह अनुमतिविरत श्रावक कहलाता है।[47] पुरुषार्थनुशासन नामक श्रावकाचार में दसवीं प्रतिमाधारी के पाप कार्यो या गृहारंभों में अनुमति देने का निषेध तथा पुण्य कार्यो में अनुमति देने का विधान विस्तार पूर्वक किया गया है।[48]

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा – यह श्रावक की उत्कृष्टतम भूमिका है। ग्यारहवीं प्रतिमा का धारी घर से मुनियों के निवास वाले वन में जाकर और गुरू के

समीप व्रतों को ग्रहण करके भिक्षा वृत्ति से आहार ग्रहण करते हुए तपस्या करता है तथा वस्त्रखण्ड को धारण करता है।[49]

वर्तमान में ग्यारहवीं प्रतिमाधारी के दो भेद स्वीकृत हैं–क्षुल्लक और ऐलक। ये दो भेद कब से हुये-यह विचारणीय है। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्राचार्य, स्वामी कार्तिकेय, सोमदेव, चामुण्डराय, अमितगति आदि ने ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद नहीं कियें हैं। पश्चाद्वर्ती वसुनन्दि, पं. आशाधर, मेधावी एवं गुणभूषण आदि ने दो भेद मानकर ग्यारहवीं प्रतिमा का विवेचन किया है। सकलकीर्ति ने ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहकर उसे सद्धातु का कमण्डलु और छोटा पात्र रखने का विधान किया है। उन्होंने उसे मुहूर्त प्रमाण निद्रा लेने का कथन किया है। लाटी संहिता और पुरुषार्थानुशासन में क्षुल्लक को सहजप्राप्त प्रासुक द्रव्य से पूजन करने का भी विधान किया गया है। वर्तमान में क्षुल्लक लंगोट के साथ एक खण्डवस्त्र भी धारण करता है, जबकि ऐलक मात्र एक लंगोट ही धारण करता है। क्षुल्लक और ऐलक मे अन्तर इस प्रकार देखा जा सकता है।

क्षुल्लक	ऐलक
1. क्षुल्लक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी प्रथमोत्कृष्ट श्रावक हैं।	ऐलक ग्यारहवीं प्रतिमाधारी चरमोत्कृष्ट श्रावक है।
2. ग्यारहवीं प्रतिमा के सर्वप्रथम दो भेद वसुनन्दि श्रावकाचार में मिलते हैं। पर प्रथमोत्कृष्ट श्रावक का क्षुल्लक नाम सत्तरहवीं शदी के राजमल्ल ने लाटी संहिता में सर्वप्रथम दिया है।	द्वितीयोत्कृष्ट या चरमोत्कृष्ट श्रावक का ऐलक नाम राजमल्ल लिखित लाटी संहिता में सर्वप्रथम दिया गया है।
3. वसुनन्दि ने प्रथम उत्कृष्ट श्रावक को एक वस्त्रधारक कहा है।	द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक को मात्र कौपीन धारक कहा है।
4. क्षुल्लक शब्द का अर्थ स्वल्प या	ऐलक कदाचित् अचेलक का

	कनिष्ठ है। इससे कनिष्ठ उत्कृष्ट श्रावक अर्थ लिया जा सकता है।	विकसित (अपभ्रष्ट) रूप हैं, जिसका अर्थ ईषत् (नाम मात्र) वस्त्रधारी है। अचेलक शब्द नञ् समास में मुनियों को भी प्रयुक्त है।
5.	क्षुल्लक दो प्रकार के होते रहे हैं– एक गृहभोजी और अनेक गृहभोजी। आजकल एक गृहभोजी क्षुल्लक ही मिलते हैं।	ऐलक एक गृहभोजी ही होते हैं।
6.	क्षुल्लक पात्र में भोजन करते हैं। कभी-कभी हाथ में भी कर लेते हैं।	ऐलक सर्वदा पाणिपात्र ही होते हैं।
7.	क्षुल्लक केशलोंच करते है, पर कैंची से भी बाल कटवा सकते हैं।	ऐलक नियम से केशलोंच ही करते हैं।
8.	क्षुल्लक के लिए पिच्छिका का नियम नही है।	ऐलक मयूरपंख की पिच्छिका रखते हैं।
9.	ग्यारहवीं प्रतिमाधारी स्त्रियाँ क्षुल्लिका कहलाती हैं। वे एक साडी एवं एक खण्ड वस्त्र रखती हैं तथा पात्र में ही भोजन करती हैं।	स्त्रियों में ऐलक जैसा कोई भेद नहीं है।

क्षुल्लक और ऐलक दोनों उत्कृष्ट श्रावकों की शेष सब क्रियाएँ समान होती हैं।

नैष्ठिक श्रावक की विविधता – ग्यारह प्रतिमाओं में पहली से छठी प्रतिमा तक के धारक श्रावक जघन्य नैष्ठिक, सातवीं से नवमीं प्रतिमा तक के धारक श्रावक मध्यम नैष्ठिक तथा दसवीं एवं ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक उत्कृष्ट नैष्ठिक कहलाते हैं। श्री चामुण्डरायम ने कहा भी है–

'आद्यास्तु षट् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनुत्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमाभुक्तौ जैनेषु जिनशासने।।'[50]

आचार्य सोमदेव ने उक्त विविध श्रावकों को क्रमशः गृही, ब्रह्मचारी और भिक्षुक नाम दिये है। यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में कहा गया है–

'षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः।।'[51]

अर्थात् पहले की छह प्रतिमाओं के धारक गृही कहे जाते हैं। तीन, सातवीं, आठवीं एवं नवमी प्रतिमाओं के धारक ब्रह्मचारी कहलाते हैं तथा दो, दसवीं एवं ग्यारहवीं प्रतिमाओं के धारी भिक्षुक कहे गये हैं। उसके पश्चात् सब मुनि होते हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि संयमप्रकाश में प्रथम से षष्ठ प्रतिमाधारी को नैष्ठिक, सप्तम से नवम प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी तथा दशम एवं एकादश प्रतिमधरी को साधक कहा गया है।52

सभी प्रतिमाओं की त्रिविधता – आचार्य जयसेन द्वारा विरचित धर्मरत्नाकार में प्रत्येक प्रतिमा का वर्णन उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से भी किया गया है। अतः प्रत्येक प्रतिमा में भी तारतम्य है। संक्षेप में इनके तारतम्य को इस प्रकार देखा जा सकता है–

1. **दर्शन प्रतिमा**

   उत्तम–सप्तव्यसन त्याग, रात्रिभोजन त्याग तथा निरतिचार मूलगुणपालन
   मध्यम–रात्रिभोजन त्याग तथा मूलगुण धारण।
   जघन्य–व्रतधारण की भावना, निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण।

2. **व्रत प्रतिमा**

   उत्तम–सम्यग्दर्शनपूर्वक निरतिचार अणुव्रत एवं गुणव्रत पालन।
   मध्यम–मूलगुणों का पालन।
   जघन्य–केवल अणुव्रतों का पालन।

3. **सामायिक प्रतिमा**

उत्तम–दोष एवं अतिचार रहित त्रिसंध्या में नियत समय तक सामायिक।
मध्यम–अणुव्रत-गुणव्रतों का निर्दोष पालन किन्तु सामायिक में दोष।
जघन्य–अणुव्रत-गुणव्रत में अतिचार तथा सामायिक में भी दोष।

4. **प्रोषधोपवास प्रतिमा**

उत्तम–चारों पर्वो में 16 प्रहर का निर्दोष उपवास, कायोत्सर्ग निर्भय होकर।
मध्यम–12 या 8 प्रहर वाला उपवास, प्रतिमायोग का अधारण।
जघन्य–यथा कथंचित् उपवास का धारण।

5. **सचित्तत्याग प्रतिमा**

उत्तम–नवधा सचित्त का यावज्जीवन त्याग।
मध्यम–प्रोषधोपवास के दिन ही सचित्त का त्याग।
जघन्य–सचित्त वस्तुओं का यथा कथंचित् त्याग।

6. **दिवामैथुनत्याग प्रतिमा**

उत्तम–दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का परिपालन।
मध्यम–क्वचित्-कदाचित् स्वस्त्री के साथ दिन में हंसी-मजाक।
जघन्य–यथा कथंचित् दिन में मैथुन त्याग।

7. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**

उत्तम–नवधा निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन।
मध्यम–वचन एवं काय से ब्रह्मचर्य का पालन।
जघन्य–ब्रह्मचर्य का यथा कथंचित् पालन।

8. **आरम्भत्याग प्रतिमा**

उत्तम–आरंभ का त्याग, स्वीकृत धन का दान, घर में उदासीन।
मध्यम–पूर्वप्रतिमाओं का सदोष किन्तु प्रकृत का निर्दोष पालन।
जघन्य–पूर्व प्रतिमाओं तथा प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।

9. **परिग्रहत्याग प्रतिमा**

उत्तम–संयम के साधन के अतिरिक्त परिग्रह का त्याग।

मध्यम—त्यक्त परिग्रह में कदाचित् ममत्व भाव।
जघन्य—पूर्व एवं प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।

10. अनुमतित्याग प्रतिमा

उत्तम—लौकिक कार्यों में स्वजनों को अनुमति का पूर्ण त्याग।
मध्यम—कदाचित् स्वजनों को लौकिक कार्यों में अनुमति।
जघन्य—पूर्व एवं प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा

उत्तम—उद्दिष्ट आहार-पान का यावज्जीवन त्याग तथा निर्दोष पालन।
मध्यम—कभी-कभी उद्दिष्ट त्याग में दोष।
जघन्य—पूर्व एवं प्रकृत प्रतिमा का सदोष पालन।[53]

उपर्युक्त "ग्यारह प्रतिमाओं के धारकों को नैष्ठिक कहते है और जीवन के अन्त मे समाधिमरण कर आत्मार्थ के साधन करने वालों को साधक कहते हैं। अतः नैष्ठिक श्रावक बनने और समाधिमरण करने की प्रतिदिन भावना करनी चाहिए।"[54]

यहाँ यह कथ्य है कि श्रावक का प्रतिमाओं के आधार पर वर्णन श्रावक के माप या उसके आगे-आगे विस्तार को जानने के लिए किया गया है। प्रतिमा शब्द का अर्थ माप या विस्तार भी है।[55]

सन्दर्भ

1 अभिधानराजेन्द्रकोश, सप्तम भाग, सावय शब्द, पृष्ठ 779, 2 वही,

3 श्रावकाचारसंग्रह, भाग-4 प्रस्तावना पृष्ठ 59 से उद्धृत, 4 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 33

5 वही, श्लोक 136 की उत्थानिका,

6 पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्रपाक्षिक ।
तद्धर्मगृहयस्तान्निष्ठो नैष्ठिक साधक स्वयुक्। —सागार धर्मामृत, 1/20

7. महापुराण, 39/143-150, 8. सागार धर्मामृत, 3/1

9 दोष सशोध्य सजातं पुत्रे न्यस्य निजान्वयम्।
त्यजत सद्य चर्यासयान्निष्ठावान्नामभेदत ।।

दृष्ट्यादिदशधर्माणा निष्ठानिर्वहण मता।
तमाचरति य स. स्यान्नैष्ठिकः साधकोत्सुक.।।
-धर्मसंग्रहश्रावकाचार, नैष्ठिक श्रावक

10. यावज्जीवं ये व्रता सन्ति साक्षीकृत्योपात्तास्ते सदा पालनीया·।
इत्थ प्रोक्ता सन्ति ये निष्ठितात्मा प्रख्यायन्ते नैष्ठिका· व्रतोधोतन श्रावकाचार, 260 श्रावकास्ते।।

11. सागाधरधर्मामृत, 3/4, 12. व्रतोद्योतनश्रावकाचार, 245-250, 13 सागारधर्मामृत, 2/54

14. दसणवय सामाइय पोसह सच्चित्त राइभक्ते य।
रभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठदेसविरदे दे।। —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 69

15 सागारधर्मामृत 3/2-3, अमितगतिश्रावकाचार 72, सस्कृत भावसंग्रह , 98

16. श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणा पूर्वगुणै सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ।।
-रत्नकरण्डश्रावकाचार, 136

17. यशास्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 821

18 पुरुषार्थानुशासनगत श्रावकाचार, 6/94

19 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 137, 20 पुरुषार्थनुशासनगत श्रावकाचार, 6/95-96

21. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 138, 22 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 330

23 किञ्च रजन्या गमन न कर्तव्य दीर्घेऽध्वनि।
दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गे गतिः।।
अश्वाधारोहण मार्गे न कार्य व्रतधारिणा।
ईर्यासमितिसशुद्धि कुत सयात्तत्र कर्मणि।।
-लाटीसंहिता, सर्ग 4 श्लोक 223-224

24 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 139, 25 महापुराण 10/158,

26 यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 853

27 रत्नकरण्डश्रावकाचार 139, चारित्रसारगत श्रावकाचार सस्कृत भावसग्रह, 92

28. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 140

29 कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 57-58 एवं 72-77 तथा वसुनन्दिश्रावकाचार, 295

30 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 141, 31. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 379

32 वही, 381, 33 रत्नकरण्डश्रावकचार, 142

34 वसुनन्दिश्रावकाचार, 296, 35 वही, 314-318

36. महापुराण 10/159, यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 833 तथा सागारधर्मामृत 3/21

37. अमितगति श्रावकाचार 72, सस्कृत भावसंग्रह-98

38 'लाटी संहिता, प्रथम सर्ग 38-43
क्रियाकोष, ग्यारह व्रत वर्णन, 61-62

39 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 143, 40 कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 384, 41 तत्त्वार्थवार्तिक, 8

42. रत्नकरण्डश्राकाचार, 144

43 कार्तिकेयानुप्रेक्ष, 385

44 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 145

45 वसुनन्दिश्रावकाचार, 299

46 श्रावकाचारसग्रह, भाग-2 पृ 454 श्लोक 73
'क्रियाकोष, ग्यारह व्रत वर्णन, 84-88

47 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 146

48 पुरुषार्थानुशासन, 60-70

49 रत्नकरण्डश्रावकाचार, 147

50 चारित्रसारगत श्रावकाचार, शीलसप्तकवर्णन, श्लोक 20

51. यशास्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, 824

52 सयमप्रकाश, उत्तरार्द्ध द्वितीय भाग पृ 558

53 द्रष्टव्य - धर्मरत्नाकर

54 श्रावकाचारसग्रह , भाग 4 प्रसतावना पृष्ठ 171

55 सस्कृत-हिन्दी कोष (शिवराम वामन आप्टे) प्रतिमा शब्द

अध्यक्ष - संस्कृत विभाग, एस.डी. कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

प्राचीन भारत में गुप्तचर-व्यवस्था

-डॉ. मुकेश बंसल

प्राचीन भारतीय साहित्य में गुप्तचर-व्यवस्था को राजनीति के संचालन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया है। गुप्तचरों के माध्यम से ही राजा बाह्य तथा आन्तरिक भेदों की जानकारी प्राप्त करके उनके निराकरण का उपाय करने में समर्थ होता है। कालिदास ने गुप्तचरों को प्रकाश की किरणें कहा है। जिनके द्वारा शत्रु-राज्य की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त होती है।[1] किरतार्जुनीय महाकाव्य में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह उत्तम चरित्रवाले, विश्वासी और उन्नति करनेवाले गुप्तचरों की नियुक्ति करके उनके माध्यम से शत्रु-पक्ष के समाचारों की जानकारी प्राप्त करे।[2]

वल्हण ने गुप्तचरों को राजा के नेत्र माना है क्योंकि वे ही उन्हें सभी रहस्यों की जानकारी देते हैं।[3] जानकीहरण महाकाव्य में गुप्तचरों के संबंध में कहा गया है कि जो छिपकर विचरण करे, वही गुप्तचर है। वेश बदलकर या गुप्तरूप से विपक्षी के राज्य, सेना व नीतियों की जानकारी प्राप्त कर अपने स्वामी से निवेदन करना ही गुप्तचर का कार्यक्षेत्र है क्योंकि गुप्तचर से प्राप्त वृत्तांत पर ही राजा अपनी भावी नीति का निर्धारण करता है।[4] चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के शासन के प्रति लोगों की चित्तवृत्ति जानने के लिए निपुणक नामक गुप्तचर की नियुक्ति की थी।[5] राम ने दुर्मुख नामक गुप्तचर को अपने ही शासन की प्रतिक्रिया जानने के लिए नियुक्त किया था।[6]

गुप्तचरों के लिए विभिन्न नाम प्रयुक्त किये गये हैं। अर्थशास्त्र में इन्हें गूढपुरुष, शुक्रनीति में गूढाचार तथा अविमारक में चर एवं रात्रिचर नाम से पुकारा गया है।[7] गुप्तचर छद्म वेश में रहकर शत्रु-पक्ष के रहस्यों का उद्घाटन तथा राजा को गुप्त सूचनाएँ प्रदान करने के कारण राज्य की सुरक्षा में उपादेय

थे।[7] गुप्तचरों की कार्यकुशलता पर राज्य की उन्नति ही नहीं वरन् अस्तित्व भी अविलम्बित था। गुप्तचर प्रमुख रूप से शत्रु-पक्ष के सैन्य-बल और युद्ध-संबंधी तैयारियों के संबंध में सूचनाएँ लाते थे।[8] राज्य-व्वस्था तथा प्रजा-व्यवहार की जानकारी के लिए भी गुप्तचरों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता था।

गुप्तचरों की नियुक्ति

प्राचीन भारतीय महाकाव्यों और दृश्यकाव्यों में गुप्तचर की नियुक्ति-सम्बन्धी विवरणों से ज्ञात होता है कि राजा द्वारा ली गयी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही गुप्तचर, राजकीय सेवा में नियुक्त किये जाते थे, जिन्हें 'उपधाविशुद्ध' गुप्तचर कहा जाता था।[9] सामान्यतः गुप्तचरों को नियमित रूप से राज्य-सेवा में नियुक्त किया जाता था, जिन्हें स्थायी वेतन प्राप्त होता था किन्तु कभी-कभी आवश्यकतानुसार अस्थायी, अल्पकालीन अथवा आकस्मिक रूप से भी उनकी नियुक्ति की जाती थी और उनके कार्य के बदले राजकोष से पारिश्रमिक दिया जाता था। गुप्तचरों की नियुक्ति राजा का पुनीत कर्त्तव्य माना गया है किन्तु वह किस वर्ण अथवा वर्ग-विशेष के व्यक्तियों को गुप्तचर बनाए इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होते हें। इतनी जानकारी अवश्य मिलती है कि राजा जिस व्यक्ति को गुप्तचर पद पर नियुक्ति करे वह कुलीन परिवार से सम्बन्ध रखता हो तथा उसके सम्बन्ध में समाज में कोई अपवाद न फैला हो।[10] वेणीसंहार में यह विवरण अवश्य मिलता है कि राज्य द्वारा धीवर, शिकारी, ग्वाले, साधु आदि सभी प्रकार के लोगों से गुप्तचर का कार्य लिया जाता था।[11] किरातार्जुनीय महाकाव्य में वर्णन आया है कि राज्य से निष्कासित युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था व प्रजा-व्यवहार की जानकारी प्राप्त करने हेतु एक किरात को ब्रह्मचारी के वेष में भेजकर उसके माध्यम से राज्य की जानकारी प्राप्त की गयी थी।[12] बुद्धचरित महाकाव्य में गुप्तचर-व्यवस्था की गतिशीलता का वर्णन करते हुए बताया गया है कि गुप्तचरों को विविध कार्यो में नियुक्त करने का अधिकार पुरोहित तथा मंत्री के कार्यक्षेत्र में आता था।[13]

गुप्तचरों की योग्यता

प्राचीन भारतीय संस्कृत-महाकाव्यों और दृश्यकाव्यों में गुप्तचरों की योग्यता-संबंधी जानकारी प्राप्त होती है। महाकाव्य किरातार्जुनीय में कहा गया है कि गुप्तचर को सच्चा-मित्र, विश्वासी और राजा का आज्ञाकारी होना चाहिए।[14] विक्रमांकदेवचरति के अनुसार गुप्तचर नीतिशास्त्रों में निपुण, वाक्पटु और मृदुभाषी होने के साथ-साथ वस्तुस्थिति को समझनेवाला, प्रखरबुद्धि और स्वामिभक्त होना चाहिए।[15] गुप्तचरों में यह भी योग्यता होनी चाहिए कि वे दूसरे पक्ष के दोषों को तो जान ले किन्तु उनके दोषों को कोई न समझ पाये, वे शत्रुपक्ष में इस प्रकार घुलमिल जायें कि सभी उन पर विश्वास करने लगें और वे वहाँ से भी वेतन पाते रहें। मुद्राराक्षस में कहा गया है कि गुप्तचरों को कुलीन राजभक्त, विश्वसनीय, वेश आदि बदलने में निपुण, विभिन्न देशों के वेश, भाषा, रीति-रिवाज, मार्ग आदि जानने में दक्ष, विभिन्न कलाओं में पारंगत तथा स्वपक्ष एवं परपक्ष के विचारों को जानने में कुशल होना चाहिए।[17] वेणीसंहार नाटक के अनुसार वे गुप्तचर योग्य होते हैं जो वेश और बोली परिवर्तन में दक्ष हों, अव्यक्त पद-चिन्हों का ज्ञान रख सके, कुचली हुई लताओं को परख सके, विभिन्न प्रकार की गुफाओं का ज्ञान रखते हों तथा दूसरों की पद-पंक्ति पहचानने में चतुर हो।[18]

गुप्तचरों का वेश

वेश-परिवर्तन में चतुर गुप्तचर देश काल तथा परिस्थितियों के अनुसार अपने असली रूप में न रहकर नकली वेश में विचरण करते थे। राजा अथवा राज्य की ओर से भी वेश-परिवर्तन एवं उनके क्रियाकलापों के विषय में किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। गुप्तचर विविध वेश धारण करके और शत्रु के साथ घुल-मिल कर अपना अभीष्ट सिद्ध करने का प्रयास करते थे।

संस्कृत साहित्य में वनचर, पुलिन्द, तापस, अंगारिक आदि वेश में विचरनेवाले गुप्तचरों का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र में भी गुप्तचरों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता हैं, जो कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहिक, तापस, क्षत्री-तीक्ष्ण, रसद, भिक्षु आदि वेश धारण करके विभिन्न रूपों

को प्राप्त कर सकते थे। इन गुप्तचरों द्वारा भिक्षुणियों, वेश्याओं और ज्योतिषियों आदि का रूप भी धारण कर लिया जाता था, जिससे वे किसी भी भेद की सहजता से जानकारी प्राप्त कर सके।[19] दृश्यकाव्य मुद्राराक्षस में गुप्तचरों के वेश-परिवर्तन तथा उसकी कार्य-क्षमताओं का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[20] यथा—

निपुणक—यम-पात्र लेकर गली-गली घूमनेवाले निपुणक को, स्वयं चाणक्य का शिष्य भी नहीं पहचान सका था।

सिद्धार्थक—चाणक्य द्वारा नियुक्त सिद्धार्थक शकटदास के मित्र के रूप में विचरण करता हुआ बताया गया है।

विराधगुप्त—राक्षस द्वारा नियुक्त यह गुप्तचर आहितुण्डिक सपेरे के रूप में विचरण करता हुआ बताया गया है एक क्षण के लिए स्वयं राक्षस भी उसे न पहचानते हुए, संशय में पड़ गया था।

शिल्पी दारुवर्मा—राक्षस द्वारा नियुक्त यह गुप्तचर, चन्द्रगुप्त के वध के उद्देश्य से रचित षड्यंत्र में शामिल था।

बर्वरक—चन्द्रगुप्त का महावत बर्वरक, राक्षस द्वारा नियुक्त छद्मवेशधारी गुप्तचर था।

विभीत्सक—चन्द्रगुप्त के शयन-कक्ष की दीवार के भीतर गुप्त रूप से छिपे हुए, रात्रि में सोते हुए चन्द्रगुप्त पर प्रहार करने वाले व्यक्तियों में, विभीत्सक भी एक गुप्तचर था, जो राक्षस द्वारा नियुक्त किया गया था।

गात्रसेवक—प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक में वासवदत्ता की हथिनी भद्रवती का महावत बनकर रहनेवाला, यौगन्धरायण द्वारा नियुक्त, गुप्तचर गात्रसेवक मदिरा न पीते हुए भी मदोन्मत्त व्यक्ति के समान प्रलाप करता हुआ बताया गया है।[21]

गुप्तचर न केवल विविध वेश-परिवर्तन कर सकते थे अपितु विविध भाषाओं के भी जानकार होते थे। गुप्तचरों द्वारा सम्भाषण के लिए सामान्यतः

सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग किया जाता था।[22]

गुप्तचरों के कर्त्तव्य

गुप्तचरों का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता था, जिन्हें गुप्तचरों के कर्त्तव्यो की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। गुप्तचर का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपने स्वामी के प्रति निष्ठावान् होना माना गया है। किरातर्जुनीय महाकाव्य में अपने स्वामी में निष्ठा न रखनेवाले अथवा राजा को सुमंत्रणा न देनेवाले गुप्तचरों को योग्य सेवक नहीं माना गया है। अपने स्वामी के साथ कपट न करना गुप्तचरों का परम कर्त्तव्य माना गया है।[23]

शत्रु-राज्य में गुप्त-रूप से रहनेवाले गुप्तचरों का यह कर्त्तव्य था कि वे वहाँ की गतिविधियों पर कड़ी दृष्टि रखते हुए अपने प्रत्येक संदेश को गुप्त-रूप से स्वामी तक पहुंचाएँ। वस्तुतः शत्रु-राज्य में जाकर अपने स्वामी के कार्यो को सिद्ध करना ही गुप्तचरों का प्रमुख कार्य स्वीकार किया गया है। अभिषेक नाटक में स्वपक्ष और शत्रु-पक्ष के उच्च अधिकारियों की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने के साथ-साथ उनमें व शत्रु-सेना में परस्पर फूट डालना ही गुप्तचर का परम कर्त्तव्य माना गया है। रावण ने राम की सेना का अनुमान लगाने के लिए ही अपने गुप्तचरों को राम के शिविर में प्रविष्ट कराया था।[24] मुद्राराक्षस में कृत्य-पक्ष अर्थात् भीत, लुब्ध, क्रुद्ध और अपमानित लोगों को वश में करना भी गुप्तचरों का कर्त्तव्य बताया गया है।[25] किरातर्जुनीय महाकाव्य में विभिन्न उपायों से राजमहल की आन्तरिक गतिविधियों की सूचना राजा तक पहुँचाना गुप्तचर का कर्त्तव्य बताया गया है। दुर्योधन अपने गुप्तचरों के माध्यम से ही अन्य राजाओं का वृतांत प्राप्त करता था।[26]

गुप्तचरों का विशेषाधिकार

राज्यानुशासन का महत्त्वपूर्ण अंग होने के कारण गुप्तचरों को कुछ विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, जिनके कारण उनके पद की गरिमा द्विगुणित हो जाती थी। गुप्तचर अपने इन विशेषाधिकारों का प्रयोग स्वेच्छा से किसी भी समय कर सकता था। शत्रु-राज्य में राजा द्वारा भेजे गये समस्त गुप्तचरों को राज्य की ओर से समस्त सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार होता था। वे

जितनी मात्रा में चाहे धन, सेना, अश्व आदि प्राप्त कर सकते थे।[27] राजा जिन गुप्तचरों को शत्रु-राज्य में वेतनभोगी भृत्य के रूप में कार्य ग्रहण करने का आदेश देता था, उन गुप्तचरों की अनुपस्थिति में राज्य की ओर से उनके परिवार को आश्रय देकर उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जाता था।[28] जहाँ गुप्तचर का राजा के प्रति स्वामिभक्त होना अनिवार्य था, वहीं राजा का भी यह कर्त्तव्य था कि वह अपने स्वामिभक्त गुप्तचरों की ओर पर्याप्त ध्यान देते हुए उन्हें प्रचुर मात्रा में धन और आदर-सम्मान प्रदान करें।

गुप्तचरों के भेद

गुप्तचरों के कार्यो को दृष्टिगत करते हुए सामान्यतः उनके दो भेद किये गये हैं–1. नागरिक गुप्तचर, 2. सैनिक गुप्तचर।

नागरिक गुप्तचरों की नियुक्ति राज्य की आन्तरिक सुरक्षा एवं सुव्यवस्था के लिए की जाती थी। ये राज्य में होनेवाली प्रत्येक घटना का ब्यौरा राजा के सम्मुख रखते थे।[29] नागरिक गुप्तचरों को किसी भी समय राजा के निकट जाने, यहाँ तक कि अन्तपुर में प्रवेश का भी अधिकार होता था। नागरिक गुप्तचर सामान्य वेषभूषा मे घूमकर प्रजा के विचारों को जानने का प्रयास करते थे तथा राज्य-व्यवस्था और प्रजा व्यवहार की जानकारी राजा को प्रस्तुत करत थे।[30] राज्य की आन्तरिक सुरक्षा की दृष्टि से विभिन्न षड्यन्त्रों की जानकारी प्राप्त करना इसका प्रमुख कर्त्तव्य था। इसके अतिरिक्त नागरिक गुप्तचर प्रजा के सुख-दुःख को भी राजा तक पहुँचाने का कार्य करते थे।[31]

सैनिक गुप्तचर, गुप्तचर-व्यवस्था के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग होते थे, जो अपने राज्य के साथ-साथ शत्रु राज्यों में होनेवाले सैनिक कृत्यों की जानकारी भी रखते थे। उनका प्रमुख कार्य विदेशी राज्यों में होनेवाली षड्यन्त्रकारी घटनाओं का समाचार राजा तक पहुँचाना होता था, जिसके लिए वे विभिन्न वेश धारण करके शत्रु-राज्य में विचरण करते थे। सैनिक गुप्तचरों के माध्यम से ही शत्रु-पक्ष की सैन्य व्यवस्था, सैन्य-प्रशिक्षण, सैन्य-कौशल एवं सैन्य-शक्ति का पता लगाने का प्रयास किया जाता था। सैनिक गुप्तचरों को विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे शत्रु-पक्ष के पुरुषों की मुखाकृति, बोलचाल,

कण्ठ, तालु और मूर्धा के उच्चारण से ही उनकी गतिविधियों को ज्ञात कर लेते थे। सैनिक गुप्तचर शत्रु-राज्य की सैन्य-शक्ति और वहां की जनता का मनोबल तोड़ने का भी प्रयास करते रहते थे।[32]

गुप्तचरों की कार्य-शैली

गुप्तचरों की सजगता पर ही उस देश की सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था निर्भर रहती थी। विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न गुप्तचर-दस्ते तैयार किये जाते थे, जो एक अधिपति के नेतृत्व में सदैव राज्य की सेवा के लिए तत्पर रहते थे। ये गुप्तचरदल विभिन्न माध्यमों से अपने स्वामी को गुप्त सूचनाएँ प्रेषित करते रहते थे। अनेक अवसरों पर निर्दिष्ट कार्य-हेतु महिला गुप्तचरों की नियुक्ति भी की जाती थी। शत्रु पक्ष का भेद निकालने के लिए गुप्तचरों को विभिन्न कार्यशैलियों को अपनाना होता था। मुद्राराक्षस नाटक में वर्णन आया है कि कहीं कोई गुप्तचर आहितुण्डिक (सपेरे) का रूप धारण किये हुए है, कोई क्षपणक (जैन साधु) बनकर विचरण कर रहा है, कोई यम देवता का भक्त बनकर यमपट्ट लिए घूम रहा है तो कोई शत्रुओं का विश्वस्त बनकर और उनसे ही वेतन प्राप्त कर उनका प्रमुख अधिकारी बन गया है।[33]

शत्रु-देश तथा शत्रु-सेनाओं में भेद लेने के लिए गुप्तचर, शत्रु-सैनिकों के वेश बनाते थे किन्तु अनेक बार भेद खुलने पर पकड़े भी जाते थे, जिस कारण उनको कड़ी यातनाएँ भी सहनी पड़ती थी और कभी-कभी तो उनका वध भी कर दिया जाता था। गुप्तचरों को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था कि साथ रहने वाला व्यक्ति भी उनको न पहचान सके। गुप्तचर-व्यवस्था इतनी सुव्यस्थित होती थी कि गुप्तचर को भी यह नहीं पता होता था कि वे एक ही व्यक्ति द्वारा नियुक्त किये गये हैं। मुद्राराक्षस के विवरण से ज्ञात होता है कि चाणक्य का गुप्तचर बौद्ध संन्यासी के रूप में नियुक्त जीवसिद्धि, क्षपणक को भी नहीं पहचान सका था कि वे दोनों चाणक्य द्वारा ही नियुक्त थे।[34]

प्राचीन भारतीय गुप्तचर-व्यवस्था निःसन्देह उन्नत तथा विकसित अवस्था में थी। जब तक किसी राज्य की गुप्तचर-व्यवस्था सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रही और शत्रु-देश तथा पड़ौसी-राज्य में उसके गुप्तचर सक्रिय रहे, तब तक

उस राज्य का अस्तित्व बना रहा किन्तु यदि राजनीतिक आलस्य एवं प्रमाद-वश गुप्तचर-व्यवस्था लचर हुई, तो वह राज्य अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह सका।

सन्दर्भ-संकेत

1 रघुवश, 17/48, 2 किरातार्जुनीय, 1 20,
3 विक्रमाकदेवचरित, 14/28, 4 जानकीहरण, 14 1,
5 मुद्राराक्षस, अक-1, 6 उत्तररामचरित, अक-1,
7 अर्थशास्त्र, 1/11/1, शुक्रनीति, 1/36, अविमारक, 6 10,
8 प्रतिज्ञा, अक-3, 9 विक्रमाकदेवचरित, 1/1,
10. महाभारत, आदिपर्व, 139 63,
11 वेणीसहार, 6/2, 12 किरातार्जुनीय, 1/1,
13 बुद्धचरित, 9/82, 14 किरातार्जुनीय, 1/2,
15 विक्रमाकदेवचरित, 1/1, 16 शिशुपालवध, 2/113,
17 मुद्राराक्षस, अक-1, 18 वेणीसहार, 6/3-4,
19 अर्थशास्त्र, 1/10/6, 1 11 7, 20 मुद्राराक्षस, अक-1-2,
21 प्रतिज्ञा0, अक-4, 22 मुद्राराक्षस, अक-2,
23 किरातार्जुनीय, 1 4-5, 24 अभिषेक, 4/19,
25 मुद्राराक्षस, अक-4, 26 किरातार्जुनीय, 1/20,
27 अविमारक, 6/10, 28 प्रतिज्ञा0, अंक-1,
29 कुमारसभव, 3/17, 30 किरातार्जुनीय, 1 1,
31 रघुवश, 14/31,
32 शास्त्री, नेमिचन्द्र, महाकवि भास, पृ 443,
33 मुद्राराक्षस, अक-2, 34 मुद्राराक्षस, अक-1

-रीडर, इतिहास विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप और उसके भेद

-डॉ. कपूरचन्द जैन

संसार में जितने जीव हैं, वे सभी सुख चाहते हैं और दुःख से भयभीत रहते हैं। दौलतराम जी ने लिखा है—

'जे त्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहें दुःख तें भयवंत।'[1]

यद्यपि संसार में क्षणिक सुख दिखाई देता है किन्तु जीव की प्रवृत्ति स्थायी सुख को प्राप्त करने की ओर हो तभी उसका कल्याण हो सकता है। एक साधक साधना में लीन थे। किसी निकट भव्य ने जब उनसे कल्याण का मार्ग पूछा तो अचानक उनके मुख से करुणा वशात् यह सूत्र निकल पड़ा—

'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'[2]

सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों से मिलकर मोक्ष का मार्ग है। एक-एक के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस पर से भव्य ने फिर प्रश्न किया सम्यग्दर्शन क्या है? परम दयालु महाराज ने कहा—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'[3]

भव्य ने पुनः प्रश्न किया भगवन्! तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है यह तो ठीक है, पर वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न कैसे होता है वे कौन से तत्त्व हैं, जिन पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। मुनिराज ने कहा हे भव्य! वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अर्थात् उपदेशादि रूप बाह्य निमित्त के बिना और अधिगम अर्थात् उपदेश रूप बाह्य निमित्त से होता है। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से सम्यग्दर्शन और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है।

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा।'

'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।'

'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः।'[4]

' भव्य ने प्रश्न किया। तत्त्वों के जानने के उपाय क्या हैं? मुनिराज ने कहा–**'प्रमाण नयैरधिगमः।'**[5]

अर्थात् प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है। इस प्रकार देखें तो प्रमाण और नय मोक्ष के साधन हैं।

प्रमाण की परिभाषा क्या हैं, और प्रमाणों की संख्या कितनी है इस विषय पर भारतीय दर्शनों में विस्तृत गवेषणा उपलब्ध होती है। भारतीय दर्शनों में और जैन न्याय ग्रन्थों में इसी कारण खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। स्वमत या स्वपक्ष का मण्डन और परपक्ष या परमत का खण्डन दर्शन के ग्रन्थों का मुख्य विषय रहा है।

प्रमाण का स्वरूप :- प्रमाण शब्द का सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– **'प्रमीयते येन स प्रमाणंम्'** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थो का ज्ञान हो उस द्वार का नाम प्रमाण हैं। दूसरे, शब्दों में जो प्रमाण का साधकतम करण हो वह प्रमाण है। तर्कभाषा में कहा गया है– **'प्रमाकरणं प्रमाणम्', कि पुनः करणम्? साधकतमं करणम्। अतिशयतं साधकं साधकतमं प्रकृष्टकारणमित्यर्थः।'**[7]

इस सामान्य निर्वचन में कोई विवाद न होने पर भी उस द्वार में विवाद हैं। नैयायिक आदि प्रमा में साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्ष को मानते हैं जबकि जैन और बौद्ध ज्ञान को ही प्रमा में साधकतम कहते हैं। जैन दर्शन की दृष्टि है कि जानना या प्रमा रूप क्रिया चूकिं चेतन है अतः उसमें साधकतम उसी का गुण-ज्ञान ही हो सकता हैं अचेतन सन्निकर्ष आदि नहीं, क्योंकि सन्निकर्ष आदि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और सन्निकर्ष आदि के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः जानने रूप क्रिया का साक्षात अव्यवहित करण ज्ञान ही है सन्निकर्ष आदि नहीं। इस प्रकार जैन दर्शन में ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है।

सवार्थ-सिद्धिः में कहा गया है **'प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमिति मात्रं वा प्रमाणम्।'**[8] अर्थात् जो अच्छी तरह ज्ञान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह

ज्ञान किया जाता है या प्रमिति मात्र प्रमाण है। तिलोय पण्णत्ति में स्पष्ट रूप में कह दिया गया है– 'णाणं होदि पमाणं'[9] अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। इनमें भी सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है मिथ्याज्ञान नहीं। श्लोक वार्तिक में कहा है–

'मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।।'[10]

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। अन्य आचार्यो का चिन्तन इसी केन्द्रविन्दु के आस-पास घूमता रहा है। आचार्य समन्तभद्र[11] ने स्वपरावभासी ज्ञान को प्रमाण बताया है। न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन[12] ने इसमें बाधारहित विशेषण लगाया। अर्थात् स्वपरावभासी बाधारहित ज्ञान को प्रमाण बतलाया। जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंकदेव ने कहीं तो स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान[13] को प्रमाण' बतलाया है और कहीं 'अनधिगतार्थ अविसंवादि ज्ञान[14] को प्रमाण बतलाया है। आचार्य विद्यानंद[15] ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाकर 'स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है। उन्होंने 'अनधिगत' पद को छोड दिया है। आचार्य माणिक्यदेव ने स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण बताकर एक प्रकार से आचार्य समन्तभद्र और अकलंक देव का ही समर्थन किया है।

प्रमाण के स्वरूप का विचार करते समय दार्शनिक परम्परा में यह भी विचार किया जाता है कि प्रमाण में जो प्रामाण्य है वह कैसे उत्पन्न होता है? और यह कैसे पता चलता है कि अमुक ज्ञान प्रमाण है और अमुक ज्ञान अप्रमाण है? अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः होती है या परतः। जैनदर्शन के अनुसार प्रामाण्य स्वतः व परतः दोनों प्रकार से होता है। श्लोक वार्तिक में कहा गया है–

तत्राश्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वतः एव नः। अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः।[17] अर्थात् अभ्यास दशा में ज्ञानस्वरूप का निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपन का भी निर्णय कर लिया जाता है, परन्तु अनभ्यासदशा में तो दूसरे कारणों से (परतः) ही प्रमाणपना जाना जाता है।

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है अतः स्वभाविक ही उसकी दृष्टि में वस्तुतः आत्मा ही प्रामाण्य है, ज्ञान नहीं। इस विषय में धवला में कहा गया है–

'ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते। न, जानाति परिछिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात्। न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिरहितस्य उत्पाद-विनाशलक्षणस्य प्रामाण्यम्, तत्र त्रिलक्षणाभावतः। अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थ क्रियाभावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानुसंधान प्रत्ययादीनामभाव-प्रसंगाच्च।'[18]

अर्थात्-ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते? उत्तर देते हुए कहा है-नहीं, क्योंकि **'जानातीति ज्ञानम्'** इस निरुक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थों को जानता है वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है। उसी को प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्यय स्वरूप किन्तु स्थिति से रहित ज्ञान पर्याय की प्रमाणता स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षणत्रय का अभाव होने के कारण अवस्तु स्वरूप उसमें परिच्छित्तिरूप अर्थक्रिया का अभाव है तथा स्थिति रहित ज्ञान पर्याय को प्रमाणता स्वीकार करने पर स्मृति प्रत्यभिज्ञान व अनुसंधान प्रत्ययों के अभाव का प्रसंग आता है।

प्रमाण के भेद :- प्रमाणों की संख्या के विषय में भी भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं है। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण मानता है। साख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है। न्याय दर्शन प्रत्यक्ष अनुमान आगम व उपमान इन चार प्रमाणों को मानता है। प्रभाकर मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति इन पॉच को मानते हैं। जैमिनी (मीमासा दर्शन) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को मानता है।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ही प्रमाणों को मानता है। पं. कैलाशचंद जी शास्त्री का यह कथन ठीक ही है– 'प्रमाण की चर्चा दार्शनिक युग की देन है। इसी से कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा होने पर भी प्रमाण और प्रमेय शब्द नहीं मिलते। अतः कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो ही भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। किन्तु कुन्दकुन्द की ही परम्परा में प्रवचनसार के पश्चात् रचे गये तत्त्वार्थसूत्र नामक

सूत्रग्रन्थ में, जो सम्भवतया इतर दर्शनों के सूत्र ग्रंथों से प्रभावित होकर उस कमी की पूर्ति के उद्देश्य से रचा गया था, ज्ञान को ही प्रमाण बतलाकर उसके दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किये हैं। यहीं से जैन दर्शन में प्रमाण की चर्चा का सूत्रपात हुआ है।'

अब जब प्रमाण को ज्ञानरूप सिद्ध किया जा चुका है तो ज्ञान के भेद ही प्रमाण के भेद प्रभेद मानने में कोई आपत्ति नहीं, जैन दर्शन में ज्ञान के पॉच भेद स्वीकार किये गये हैं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। यही मौलिक जैन परम्परा है, अतः अन्य किसी दर्शन में ये भेद नहीं पाये जाते दूसरे जैन कर्म सिद्धान्त में ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञानावरणी कर्म के पॉच भेद इन्हीं भेदों को आधार मानकर किये गये हैं। ये हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। तत्त्वार्थ सूत्र में इन पॉच भेदों का कथन करके पहले इन्हें प्रमाण बताया है फिर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष में इन पांचों का विभाजन करते हुए मति और श्रुत को परोक्ष प्रमाण तथा शेष तीन ज्ञानों को प्रत्पक्ष प्रमाण बताया है। यथा–

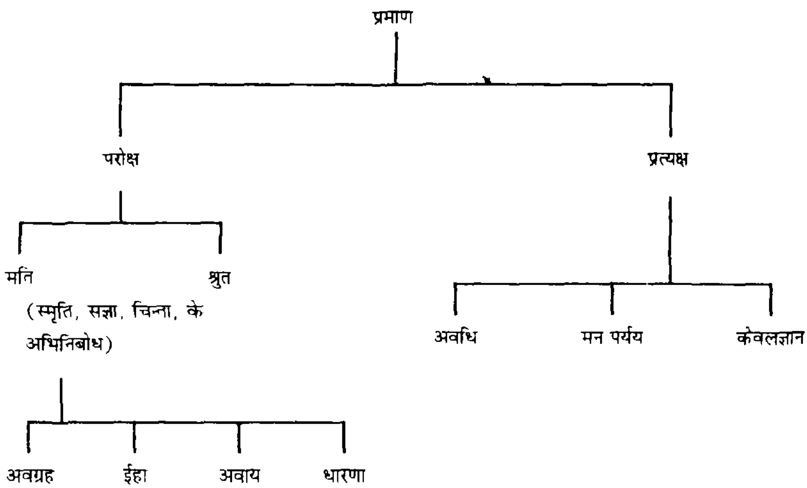
'मति श्रुतावधि मनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्।'
'तत्प्रमाणे।'
'आद्ये परोक्षम्।'
'प्रत्यक्षमन्यत्।' [20]

अर्थात् मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान ही प्रमाण है। ये सभी दो प्रमाण स्वरूप हैं। पहले के दो अर्थात् मति और श्रुत परोक्ष हैं तथा शेष अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीन प्रत्यक्ष हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ही मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता नामक ज्ञानों को अनर्थान्तर कहा है–

'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।'[21]

इस प्रकार आचार्य उमास्वामी ने अपने समय में प्रचलित स्मृतिः प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में करके जैन प्रमाण का सिक्का जमा दिया। अब तक के भेदों को एक रेखाचित्र में निम्न प्रकार



दिखाया जा सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने इस प्रकार स्मृति आदि को मतिज्ञान मे अन्तर्भूत करके जैन न्याय का सिक्का तो जमा दिया किन्तु अन्य दार्शनिकों द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने के स्थान पर जैन दर्शन द्वारा परोक्ष मानने की गुत्थी को वे नहीं सुलझा सके। वास्तविक धरातल पर जैन दार्शनिकों की यह मान्यता टिक नहीं पाती थी। सभी दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानते हैं। दूसरी गुत्थी परोक्ष के भेदों को लेकर भी थी। प्रतिवादियों की ओर से जैन दार्शनिकों के सामने हमेशा यह प्रश्न होता था कि यदि जैन अनुमान आदि को परोक्ष मानते है तो उन्हें स्पष्ट करना चाहिए कि परोक्ष प्रमाण के भेदों का सुनिश्चित लक्षण क्या है?

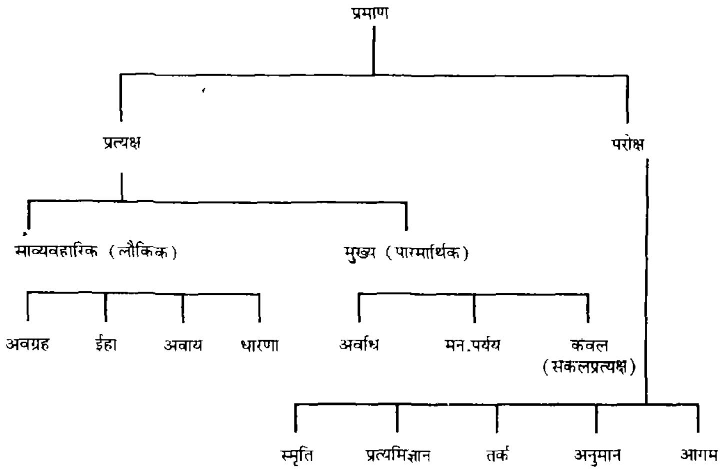
जैन न्याय प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव ने शास्त्रानुकूल समाधान निकालकर इन गुत्थियों को हमेशा के लिए सुलझा दिया। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आधार मानकर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये किन्तु प्रत्पक्ष के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष ये दो भेद कर दिये। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से निकालकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की

परिधि में सम्मिलित कर लिया। इससे प्राचीन जैन परम्परा को कोई क्षति नहीं हुई तथा विपक्षियों के मुंह बन्द हो गये। प्राचीन जैन परम्परा इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष नाम दे देने से जैन परम्परा को कोई क्षति नहीं हुई। वस्तुतः नाम के कारण ही विवाद था, प्रत्यक्ष नाम दे देने से वह विवाद समाप्त हो गया।

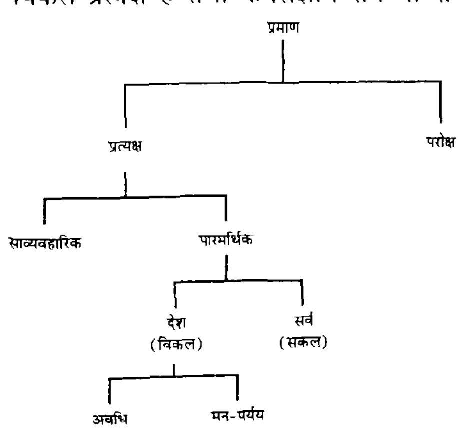
स्मृति आदि प्रमाणों को अकलंक देव ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में भी अन्तर्भूत किया और परोक्ष श्रुतज्ञान में भी जब तक इनमें शब्द का संसर्ग न हो तब तक तो इन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जायगा। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद किये गये है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मतिज्ञान और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति आदि आते हैं क्योंकि उनमें मन का व्यापार ही प्रधान होता है। परन्तु यदि ये स्मृति आदि शब्द का ससर्ग लिए हुए हों तो उनका अन्तर्भाव परोक्ष श्रुतज्ञान में किया गया है। अकलंक ने जो स्मृति आदि प्रमाणो को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया उसके मूल में उनकी केवल एक ही दृष्टि थी वह थी सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना अतः जब मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया तो उसके सहयोगी स्मृति आदि को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लेना ही चाहिए।

अकलंक देव के इस मत को प्रायः सभी ने स्वीकार किया किन्तु अकलंक देव के ही ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकर अनन्तवीर्य आरैर विद्यानन्द ने स्मृति आदि को अतिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना है। विद्यानन्द ने प्रमाण परीक्षा में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद तो किये किन्तु अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदि को परोक्ष ही माना। उत्तरकालीन जैन तार्किकों ने भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान को तो एक मत से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। अकलंक देव ने उमास्वामी के मत की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया था वह सफल तो नहीं हो सका किन्तु उनकी

तार्किक पद्धति का लोहा, सभी ने माना। अकलंक देव और प्रायः अन्य सभी द्वारा मान्य प्रमाण स्वरूप का वर्गीकरण निम्न रूप में स्पष्ट कर सकते हैं।



न्यायविनिश्चय टीका मे प्रत्यक्ष के तीन भेद किये गये हैं।– 1. देवों द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान, द्रव्य व पर्याय अथवा सामान्य व विशेष को जानने वाला ज्ञान तथा आत्मा को प्रत्यक्ष देखने वाला स्वसंवेदन ज्ञान।[23] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार प्रत्यक्ष (पारमार्थिक) देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। धवला में इन्हें सकल प्रत्यक्ष व विकल प्रत्यक्ष कहा गया है। अवधि और मनःपर्यय देश या विकल प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सर्व या सकल प्रत्यक्ष हैं।[24]



यथा—

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाण की विस्तृत चर्चा की गई है मोक्षमार्ग में यह उपादेय है।

सन्दर्भ

1 छहढाला 1/1
2 तत्त्वार्थसूत्र 1/1
3 वही 1/2
4 वही 1/3-5
6 वही 1/6
7 तर्कभाषा पृष्ठ 12-17 (साहित्य भण्डार सस्करण)
8 सर्वार्थसिद्धि 1/10/98/2
9 तिलोय पण्णत्ति 1/83
10 श्लोकवार्तिक 3/1/10/38/65
11 स्वपरावभासक यथा प्रमाण भुवि बुद्धिलक्षणम्, वृ स्व 63
12 प्रमाण स्वपराभासिज्ञान बाधविवर्जितम् —न्याय0-1
13 'व्यवसायात्मक ज्ञानमात्मार्थग्राहक मतम्' —लघीयस्त्रय 60
14 'प्रमाणभविसवादिज्ञानमनधिगतार्थ लक्षणत्वात्' — अष्टसहस्री पृ 174
15 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्' परीक्षामुख - 1-1
16 सम्यग्ज्ञान प्रमाणम् स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञानम् —प्र प्र 53
17 श्लोक वार्तिक 3/1/10/126-1272119 (जैन सि को 3/पृ 144)
18 धवला 9/4, 1, 45/142/2 (जै सि को. 3/पृ 144)
19 जैन न्याय (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) प्रष्ठ 110
20 तत्त्वार्थसूत्र 1/9-12
21 वही 1/13
22 प्रमाण परीक्षा
23. न्याय वि. टी 1/3/115/25 (जै सि कोष 3/123)
24 धवला 9/4.1 45/142 (वही पृ 3/123)

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,
कुन्दकुन्द जैन (पी. जी.) कालेज
खतौली-251201 (उ. प्र.)

ध्यान-ध्याता-ध्येय

-(डॉ.) श्रीमती राका जैन

संसार में प्राणी नाना प्रकार की आधि (मन की बीमारी) व्याधि (तन की बीमारी) और उपाधि (कषायादि भावना की बीमारी) से त्रस्त हैं, वे दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं किन्तु मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। इसका एकमात्र कारण है सम्यक् श्रद्धा का अभाव। संसार चक्र से मुक्ति पाने के लिए सही पुरुषार्थ है मोक्ष। मोक्ष पाने तक ध्यान-ध्याता-ध्येय ही एक मात्र सहायक है। मोक्ष का साधन ध्यान है साधक ध्याता है और ध्येय साध्य 'आराध्यदेव' है। ध्यान-ध्याता-ध्येय की अभिन्न दशा अथवा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का एकीकरण, साध्य-साधन-साधक का समष्टि रूप ही मोक्षदशा है– कविवर दौतलराम जी ने स्पष्ट लिखा है–

जहां ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेदन जहां,
चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहां।
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चलदशा
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत-ये तीनधा एकै लशा।

ध्यान

ध्यान आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत परिगणित है। चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है। आचार्य उमास्वामि ने उत्तम संहनन वाले को ध्याता की संज्ञा दी है और ध्याता के द्वारा अन्तमुहूर्त तक एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है यथा–

'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्।' 9/27

ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। अतः चित्त की चंचलता को रोकने के लिए आचार्य उमास्वामी ने एकाग्र शब्द दिया है। चिन्तानिरोध ध्यान का

विशेषण है, चिन्ता ज्ञान की पर्याय है। उस ज्ञान की व्यग्रता दूर होना ही ध्यान है। जैनदर्शन में एकाग्र ध्यान की प्रधानता है 'अग्र' से अभिप्राय आत्मा है। ध्यान में आत्मा को ही प्रधान लक्ष्य माना गया है। ध्यान स्ववृत्ति है। ध्यान में बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है। ध्यान के लिए 'एकाग्रचिन्तानिरोध' ही यथार्थ है। किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है और वह वास्तव में क्रमरूप ही है। जो मोह और रागद्वेष से दूर है तथा मन, वचन, काय रूप योगो के प्रति उपेक्षित है उसको शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रकट होती है। तत्वानुशासन के अनुसार आत्मा, अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिए, अपने-अपने आत्महेतु से ध्याता है इसलिए कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—ऐसे षट्कारक रूप परिणत आत्मा ही ध्यान स्वरूप है।

ध्यान के अंग

ध्याता, ध्यान, ध्येय व ध्यान—फल रूप चार अंग वाला ध्यान अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है

ध्यान के भेद—

ध्यान का यथार्थ स्वरूप जानना हो तो उसके भेद-प्रभेद को जानना अत्यावश्क है। आगम कथनानुसार विचारधारा अनेक प्रकार की हैं क्योंकि आत्मा (जीव) का स्वभाव परिणमनशील है। शुभाशुभ असंख्य विचारधाराओं को समझना कठिन होने से ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया है। उन्हें ध्यान की संज्ञा दी गई है।

आगम में मुख्यतः ध्यान के चार भेद हैं :—
1. आर्त्त ध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान 4. शुक्लध्यान।

आगमकथित आर्त्तध्यान के चार भेद—

(1) अमनोज्ञ-वियोगचिन्ता— अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता

करना अमनोज्ञ वियोगचिन्ता आर्त्तध्यान है।

(2) **मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता**— पांचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषयों का एवं माता, पिता, पुत्र पुत्री, पत्नी, भाई, बहन, मित्र, स्वजन, परिजन आदि सबके मिलने पर वियोग न होने का अध्यवसाय (विचार) करना तथा भविष्य में भी इनका वियोग न हो ऐसा निरन्तर सोचना मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है।

(3) **आतंक (रोग) वियोगचिन्ता**— वात, पित्त और कफ के प्रकोप से उत्पन्न व्याकुलता को दूर करने के लिए सतत् चिन्तित रहना 'आतंक—वियोगचिन्ता' नामक तीसरा आर्त्तध्यान है।

(4) **भोगेच्छा अथवा निदान**— पांचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियां कामी (कान-आंख) हैं जबकि शेष तीन इन्द्रियां (रसन, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन पांचों इन्द्रियों के पांच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श। इन इन्द्रियों के द्वारा काम-भोगों को भोगने की इच्छा करना ही 'भोगेच्छा' नामक चौथा आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान के भेद

रौद्रध्यान के भेद—आगम कथित रौद्रध्यान के चार भेद इस प्रकार है—

(1) **हिंसानुबंधि**—द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा का चिन्तन करना। वर्तमान काल में भी हिंसा के विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं वे सब हिंसानुबंधि रौद्रध्यान ही हैं। इसे 'हिंसानन्दि' भी कहते हैं।

(2) **मृषानुबंधि**— झूठ बोलना आदि इसके अनेक प्रकार है। इसे 'मृषानंद' या 'मृषानन्दि' भी कहते हैं।

(3) **स्तेयानुबंधि**—चोरी करना, डाका डालना, चोरी की वस्तु आदि लेना स्तेयानुबंधि रौद्र-ध्यान है। इसे 'चौर्यानन्द' या 'चौर्यानन्दि' भी कहते हैं।

(4) **संरक्षणानुबन्धी**—वस्तु, पदार्थ, आभूषण आदि का संरक्षण करने की तीव्र भावना रखने का चिन्तन करना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इसे

'संरक्षणानन्द' अथवा 'विषयानन्दि' या 'विषय-संरक्षणानुबन्धी' भी कहते हैं।

धर्मध्यान के भेद

(1) अज्ञाविचय धर्मध्यान—(यह) आज्ञा+विचय इन दो 'शब्दों' के सयोग से बना है। 'आज्ञा' शब्द से 'आगम' 'सिद्धान्त' और 'जिनवचन' को लिया जाता है। विचय का अर्थ चिन्तन या अभ्यास है।

(2) अपायविचय धर्मध्यान—रागादि क्रिया, कषायादिभाव, मिथ्यात्वादि हेतु आस्रव के पांच कार्य, 4 प्रकार की विकथा, 3 प्रकार का गौरव (ऐश्वर्य, सुख, रस-साता), 3 शल्य (माया शल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, निदानशल्य) 22 परीषह (क्षुधा-तृषा, शीत-ऊष्ण, दंश-मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल (पसीना), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन) इन सभी उपायों का उपाय सोचना विचारणा ही 'अपायविचय' धर्मध्यान है।

(3) विपाकविचय धर्मध्यान—कर्म चार रूप में बध को प्राप्त होते हैं— प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबध और प्रदेशबध। इनके विपाकोदय का चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है।

(4) संस्थानविचय धर्मध्यान—'संस्थान' का अर्थ 'संस्थिति', 'अवस्थिति', 'पदार्थो का स्वरूप' है। 'विचय' का अर्थ-चिन्तन अथवा अभ्यास है। इसमें लोक का स्वरूप, आकार, भेद, षट् द्रव्य-उनका स्वरूप, लक्षण, भेद, आधार, स्वभाव, प्रमाण, द्वीप, समुद्र, नदियां आदि लोक में स्थित सभी पदार्थो का, उत्पाद-व्यय, ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन किया जाता है।7

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा

(1) एकत्व-अनुप्रेक्षा—अकेलेपन का चिन्तन करना। जिससे अहंकार का नाश होता है।

(2) अनित्य-अनुप्रेक्षा—पदार्थो की अनित्यता का चिन्तन करना। इस भावना के सतत चिन्तन से ममत्व का नाश हो जाता है।

(3) **अशरण-अनुप्रेक्षा**—अशरण दशा का चिन्तन करना। संसार में जो वस्तु नित्य, अनित्य, क्षणिक और नाशवान हैं वे सभी अशरण-रूप हैं। जन्म जरा और मरण, आधि-व्याधि-उपाधि से पीड़ित जीवों का संसार में कोई शरण नहीं है। शरण रूप यदि कोई है तो एक मात्र जिनेन्द्र का वचन ही।

(4) **संसार-अनुप्रेक्षा**—चतुर्गति में परिभ्रमण कराने वाले जन्म-मरण रूप चक्र को संसार कहते हैं। जीव इस संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच संसार चक्र में मिथ्यातवादि के तीव्रोदय से दुःखित होकर भ्रमण करता है। अतः संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

शुक्लध्यान के भेद

चेतना की स्वाभाविक (उपाधि-रहित) परिणति को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—

(1) **पृथक्त्व-वितर्क-सविचार (सविचारी)**—इनमें तीन शब्द आये हुए हैं जिनका अर्थ है—'पृथक्त्व'-भेद, 'वितर्क'-विशेष तर्कणा (द्वादशागश्रुत), और 'विचार'-'वि'-विशेष रूप से, 'चार' चलना यानी अर्थ—व्यंजना (शब्द) और योग (मन-वचन-काय) में संक्रान्ति (बदलना) करना ही 'विचार' है।

(2) **एकत्व-वितर्क-अविचार (अविचारी)**—इसमें चित्त की स्थिति वायुरहित दीपक की लौ की भांति होती है। जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काया में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, तीन योग में से कोई भी एक ही योग ध्येय रूप में होता है। एक ही ध्येय होने के कारण अर्थ, व्यंजना और योग में एकात्मकता रहती है। द्रव्य-गुण-पर्याय में मेरूवत निश्चल अवस्थित चित्त वाले चौदह, दस और नौ पूर्वधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करते हैं। वे असंख्यात-असंख्यात गुणश्रेणिक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुए ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मो को केवलज्ञान के प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही युगपद् नाश करते हैं। तब जीव शुद्ध निर्मल क्षायिक

सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। शुक्लध्यान की इस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहा जाता है।

(3) **सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति प्रतिपाती**—द्वितीय शुक्लाध्यानावस्था में साधक आत्मा को केवलज्ञान हो जाने से वह समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्यायों को युगपद् जानने लग जाता है। घातिकर्म को क्षय कर देता है और अघातिकर्म शेष रहते हैं। जिनकी आयु-कर्म कम हो और शेष तीन कर्मो की स्थिति अधिक हो तो आयुसम करने के लिए उनके 'केवली-समुदघात' होता है।

(4) **समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती**—तीसरे ध्यान के बाद चतुर्थ ध्यान प्रारम्भ होता है। इसमें योगों (मन-वचन-काय का व्यापार) का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है। सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाती है।

ध्यान को जानने के उपाय

ध्यान को समझने के लिए निम्न बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए।

(1) ध्यान की भावना (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वैराग्य एवं मैत्र्यादि)।
(2) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान।
(3) ध्यान के लिए उचित काल।
(4) ध्यान के लिए उचित आसन।
(5) ध्यान के लिए आलंबन।
(6) ध्यान का क्रम (मनोनिरोध या योगनिरोध)।
(7) ध्याता का विषय (ध्येय)
(8) ध्याता कौन?
(9) अनुप्रेक्षा।
(10) शुद्धलेश्या।
(11) ध्यान का फल (संवर, निर्जरा)

बौद्धदृष्टि से ध्यान

शील, समाधि और प्रज्ञा इस त्रिविध साधना पद्धति में सम्पूर्ण बौद्ध-साधना का दिग्दर्शन है। इनमें 'समाधि' के अन्तर्गत ही ध्यानयोग का स्वरूप स्पष्ट किया है। 'ध्यान' शब्द के साथ ही साथ समाधि, विमुक्ति, शमथ, भावना, विशुद्धि, विश्चयना, अधिचित्त, योग कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्भण, लक्खण आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। यहां पर 'ध्यान' समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द है।

ध्यान का शाब्दिक अर्थ है—चिन्तन करना। यहां 'ध्यान' से तात्पर्य है अकुशल कर्मो का दहन करना। अकुशल कर्मो के दहन के लिए शील, समाधि, प्रजा एवं चार आर्य सत्य (1. दुःख, 2. दुःख समुदय, 3. दुःख निरोध गामिनी प्रतिपदा, 4. आर्य सत्य के अन्तर्गत अष्टान्हिका साधना मार्ग) आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि अकुशल कर्मो का मूल लोभ और मोह है। इन्हीं का दहन साधना और ध्यान से किया जाता है। किन्तु यहां अकुशल कर्मो से पांच नीवरणों को लिया गया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ध्यान

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जिनका मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाता है तब उस पर नियंत्रण करने के लिए ध्यान की प्रक्रिया की जाती है। ध्यान प्रक्रिया में शरीर और मन का अग्रगण्य स्थान होता है। इसीलिये आधुनिक मनोविज्ञान भी शरीर और मन के अनुसंधान में लगा हुआ है।

मानसिक प्रक्रिया में "ध्यान" की स्थिति तक पहुंचने के लिए तीन मानसिक स्तरों या प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। वे मानसिक स्तर इस प्रकार हैं—

(1) चेतन मन, (2) चेतनोन्मुख मन (3) अचेतन मन।

इन 'मन' के तीन स्तरों को फ्रायड ने नाट्यशाला के समान बताया है। नाट्यशाला की रंगभूमि समान 'चेतन मन', नाट्यशाला की सजावट समान

'अचेतन मन' और रंगशाला में प्रवेश करने की भांति 'चेतनोन्मुख मन' है। मन को बर्फ की उपमा दी है।

मनोवैज्ञानिकों ने मन की वृत्ति तीन प्रकार की बताई है, जैसे कि–(1) ज्ञानात्मक, (2) वेदनात्मक और (3) क्रियात्मक। ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है एवं चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम है। ध्यान मन की वह क्रिया है–जिसका परिणाम ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिए ध्यान की आवश्यकता है। जागृत अवस्था में किसी न किसी वस्तु पर ध्यान किया जाता है।

ध्यान के सोपान–आगम एवं ग्रन्थों के कथनानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं–(1) छद्मस्थ का ध्यान और (2) जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काया की स्थिरता है।

ध्याता

धर्म व शुक्ल ध्यानों को ध्याने वाले योगी को ध्याता कहते हैं। शुक्लध्यान तो पूर्वविद् को ही होता है परन्तु धर्मध्यान पूर्वविद को भी होता है और अल्पश्रुत को भी। महापुराण के अनुसार यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदहपूर्व का या दशपूर्व का या नौ पूर्व का जानने वाला हो तो ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। अल्पश्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान और श्रेणी से पहले धर्मध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है। द्रव्य संग्रह के अनुसार पांच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपान करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। चारित्रसार के अनुसार प्रशस्त ध्यान का ध्याता मन, वचन, काय को वश में रखने वाला होता है।

"मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तवित्तोवशी स्थिरः।
जिताः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।।

जो मुमुक्षु हो, उत्तम संहनन वाला हो, संसार से विरक्त हो, आर्त-रौद्र ध्यान से दूर, अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित,

शान्त चित्त, चित्त संवरयुक्त हो और उपसर्ग आने पर न डिगे ऐसे ध्याता की ही शास्त्रों में प्रशंसा की गई है। इसके विपरीत जो मायाचारी हो, मुनि होकर भी जो परिग्रह धारी हो। ख्यातिलाभ पूजा के व्यापार में आसक्त हो इन्द्रियों का दास हो, विरागता को प्राप्त न हुआ—ऐसे ध्याता को ध्यान की प्राप्ति नहीं होती।

ध्येय

जो अशुभ तथा शुभ पदार्थो का कारण हो उसे ध्यये कहते हैं। धवला के अनुसार जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट सात तत्व एव नौ पदार्थ ध्येय है। हमारे ध्यान करने योग्य वीतराग देव है, केवलज्ञान के द्वारा जिसने त्रिकाल-गोचर अनन्त पर्यायों से उपचित छह द्रव्यों को जान लिया है, जो अजर है, अमर है, अछेद्य है, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है अतएव दर्पण में संक्रान्त हुई मनुष्य की छाया के समान होकर भी समस्त मनुष्यों के प्रभाव से परे है, अव्यक्त है अक्षय है जिन जीवों ने अपने स्वरूप में चित्त लगाया है उनके समस्त पापों का नाश करने वाला ऐसा जिनदेव ध्यान करने योग्य है। अर्हन्त भगवान ध्येय हैं। जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएं रत्नत्रय रूप हैं।

ध्येय के भेद—शब्द, अर्थ और ज्ञान-इस तरह तीन प्रकार का ध्येय कहा जाता है। मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थान का आगम के अनुसार चित्त की एकाग्रता के साथ चिन्तवन करें। अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार का ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूप से ध्यान के योग्य माना गया है अथवा द्रव्य और भाव के भेद वे द्विविध है।

इस प्रकार पदार्थो का चिन्तक ही जीवों के प्रशस्त या अप्रशस्त भावों का कारण है इसलिए ध्यान के प्रकरण में यह विवेक आवश्यक है कि कौन व कैसे पदार्थ ध्यान किए जाने योग्य हैं और कौन नहीं।

उपसंहार

ध्यान को व्यवहारिक जीवन में भी उपयोगी बनाया जा सकता है। यह मात्र सिद्धान्त नहीं है तथा हमारी पूजा प्रक्रिया में इसीलिए सम्मिलित किया जाता है कि यह हमारे जीवन में उपयोगी है।

—आचार्य तुलसी द्वारा प्रवर्तित अनुप्रेक्षा ध्यान के द्वारा बहुत लोग स्वस्थ्य होते देखे गए हैं। इसी प्रकार आचार्य गोसन द्वारा बौद्ध विपश्यना पद्धति को व्यवहार में चरितार्थ करके सिद्ध किया जाता है।

मिथ्यादृष्टि से हटकर सम्यग्दृष्टि में आना ही ध्यान की प्रक्रिया है। ध्यान से आध्यात्मिक परम सुख की प्राप्ति होती है साथ ही साथ शारीरिक और मानसिक विकास भी उत्तरोत्तर होता रहता है। काया की स्थिरता, मन की निर्मलता, वचन की मधुरता, हृदय की पवित्रता ध्यान से ही प्राप्त होती है। दशा को बदलने के लिए दिशा को बदलना होगा। दिशा का परिवर्तन आचार-विचार-उच्चार की निर्मलता से होता है। चित्तशुद्धि से कर्म-मलादि का शोधन होता है। जैसे—मैले-कुचैले वस्त्र को पानी से, लोहे को अग्नि से, कीचड़ को सूर्य किरणों से शोधन किया जाता है वैसे ही ध्यान रूपी पानी, अग्नि, सूर्य से कर्ममल का परिशीलन (छानन) किया जाता है। अतः ध्यानाग्नि से ही कर्म ईधन को जलाया जा सकता है। ध्यान जीवन परिवर्तन की परम औषधि है। जन्म मरण का रोग भयंकर है। द्रव्यरोग की दवा डॉक्टर के पास है, भावरोग की नहीं। वह तो ध्यानयोग के ही पास है। सनत्कुमार चक्रवर्ती, आदि भव्यात्माओं ने ध्यान बल से भावरोग को नाश कर किया।

समत्व योग की साधना ही ध्यान की साधना है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। प्रशस्त ध्यान से केवल साम्य ही स्थिर नहीं होता, अपितु कर्ममल से मलिन जीवन की शुद्धि होती है। अतः ध्यान किया नहीं जाता वह फलित होता है। हमारे शारीरिक मानसिक सन्तुलन दशा का परिणाम ही ध्यानावस्था है। वर्तमान कालीन परिस्थिति में शान्ति पाने के लिए एकमात्र परम औषधि है 'ध्यान'। ध्यान की प्रक्रिया से आत्मिक शान्ति मिलती है।

जैन अनुशासन के मूल तत्त्व

-कु. रेखा जैन

'अनुशासन' : निष्पत्ति और निहितार्थ— अनुशासन शब्द की निष्पत्ति - अनु + शास् + ल्युट् अर्थात् अनु उपसर्ग-पूर्वक शास् धातु से ल्युट् प्रत्यय जोड़ने पर और ल्युट् में से शेष रहे यु के स्थान पर कृदन्त का अन् प्रत्यय करने पर होती है। अनुशासन का अर्थ-आदेश, प्रोत्साहन, शिक्षण नियमों, विधियों का बनाना, आदेश या शिक्षा के शब्द, संज्ञाओं के लिङ्ग सम्बन्धी नियमों का निर्धारण तथा व्याख्या है। शब्दकोशकारों ने अनुशासन शब्द का बहुत व्यापक अर्थो में प्रयोग किया है। इसका प्रयोग उन्होंने आदेश, आज्ञा, उपदेश और शिक्षा के अर्थ में तो किया ही है 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration) तथा 'डिसिप्लिन' (Dicipline) के अर्थ मे भी इसका प्रयोग किया है।

राज्य समूह, समाज वर्ग या संस्था के सभी सदस्यों को अच्छी तरह से कार्य करने की विधि अथवा आचरण करने के लिये अनिवार्यता निर्देशित करने की प्रक्रिया, अनुशासन अर्थात् 'एडमिनिस्ट्रेशन' (Administration) और नियम पालन (Discipline) ही वस्तुतः 'अनुशासन' है।

''जैन'' : व्युत्पत्यर्थ और प्रयोग— 'जैन' शब्द 'जिन' से निष्पन्न होता है। 'जिन' शब्द संस्कृत की 'जि' धातु के गर्भ से जन्मा है। यह जीतने के अर्थ में प्रयुक्त है। 'जयति कर्मशत्रून् इति जिनः' अर्थात् जो इन्द्रियो को तथा कर्म रूपी शत्रुओं को जीतता है वह 'जिन' है। 'जिन' कोई ईश्वरीय अवतार न होकर काम, क्रोध आदि विकारों/विभावों को जीतने वाले सामान्य मनुष्य होते हैं 'जिन' के अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं।

जैन का अर्थ हुआ 'जिन' का अनुशरण करने वाला। जिन के चरण चिन्हों पर चलने वाला।

अहिंसा : साम्यवाद की अभिव्यञ्जक महाशक्ति— जैन अनुशासन की मूलभित्ति अहिंसा है। यह साम्यवाद की अभिव्यञ्जक महाशक्ति है। इसका जितना सूक्ष्म विवेचन जैन परम्परा में मिलता है, उतना अन्य किसी परम्परा में नहीं। प्रत्येक आत्मा चाहे वह किसी भी योनि में क्यों न हो तात्त्विक दृष्टि से समान है। चेतना के धरातल पर समस्त प्राणी समूह एक जैसे हैं। उसमें कोई भेद नहीं है। जैन दृष्टि का यह 'साम्यवाद' भारत के लिये गौरव की वस्तु है। इसी साम्यवाद के आधार पर जैन परम्परा यह घोषणा करती है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध की बात न सोचे शरीर से हत्या कर देना तो पाप है ही, किन्तु मन में तद्विषयक भाव होना भी पाप है। मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को संताप नहीं देना, उनका वध नहीं करना, उसे कष्ट नहीं देना यही **सच्ची अहिंसा** है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुन्द-कुन्द कहते हैं कि—

'उचचालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।। —प्र.सा.मू.गा. 3.17(1)
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहोच्चिय अज्झप्पमाणदो दिट्ठो।।' —प्र.सा.मू.गा 3 17 (2)

अर्थात् यदि कोई मनुष्य सावधानीपूर्वक जीवों को बचाते हुये देखभाल कर चल रहा है, फिर भी यदि कदाचित् कोई जीव उसके पैरों के नीचे आकर मर भी जाए तो उसे तज्जन्य हिंसा संबंधी सूक्ष्म पाप भी नहीं लगता क्योंकि उसके मन में हिंसा के भाव नहीं हैं तथा वह सावधान है।

इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य 'मेरी इस प्रवृत्ति से किसी का घात हो रहा है या नहीं, किसी को कष्ट पहुंच रहा है या नहीं इस बात का विचार किए बिना एकदम लापरवाही और असावधानी से चल रहा है तो उसे हिंसा निमित्तक पाप आवश्य लगेगा भले ही जीव का वध हो या न हो।

'मरदु व जीयदु व जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।।' -प्र.सा.मू.गा. 3.17

अर्थात् यदि कोई असवाधानी पूर्वक अयत्नाचारी बनकर अपनी प्रवृत्ति कर रहा है तो जीव मरे या न मरे, उसे तज्जन्य पाप से कोई बचा नहीं सकता; तथा सावधानी से प्रयत्नपूर्वक चलने वाले मनुष्य द्वारा हिसा हो जाने पर भी वह पाप का भागीदार नहीं होता। वनस्पति जगत् से लेकर मानव तक की अहिंसा की यह कहानी जैन अनुशासन की विशिष्ट देन है। विचारों में एकात्मवाद का आदर्श तो अन्यत्र भी मिल जाता है, किन्तु अनुशासन पर जितना बल जैनदर्शन में दिया गया है उतना अन्यत्र नहीं मिल सकता। अहिंसा का उत्कर्ष जैन अनुशासन की अपनी मौलिक देन है।

अनेकान्तवाद : वैचारिक उदारता का परिचायक– जैन अनुशासन का मूल तत्त्व सार्वजनीन वैचारिक उदारता का ज्ञापक स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अर्थात् एक ही वस्तु परस्पर विरोधी अनेक धर्मो, गुणों का पिंड है। उसे समझने के लिये अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना जरूरी है। अनेकान्त का अर्थ है–अनन्त धर्मात्मक वस्तु को तत् तत् दृष्टि से स्वीकार कर वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि। उसके बिना वस्तु का समग्र बोध नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु को हम जैसी देखते हैं वस्तु वैसी ही नहीं है, अपितु उसे उन जैसी अनन्त दृष्टियों से देखे जाने की संभावना है। हमारा स्वल्प ज्ञान समग्र वस्तु को विषय नहीं बना सकता। जब तक हम वस्तु को समग्र दृष्टि से नहीं देखते तब तक हमे उसका समग्र बोध नहीं हो सकता। वस्तु के समग्र बोध के लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि को अपनाना जरूरी है।

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा-शैली का नाम है। प्रायः अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है। किन्तु दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। **अनेकान्त ज्ञानात्मक** है और **स्याद्वाद वचनात्मक;** अनेकान्त प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। हॉ! अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा जा सकता है। जैन ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का वाची शब्द है जो एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रकट करता

है। वस्तुतः 'स्याद्वाद' अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है।

'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। 'स्यात्' यह एक निपात शब्द है। इसका अर्थ 'शायद' या संदेह नहीं। इसका अर्थ है कथञ्चित्, किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। वाद शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जो 'स्यात्' का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि जो विरोधी धर्म का निराकरण न करता हुआ अपेक्षा विशेष से विवक्षित पक्ष/धर्म का प्रतिपादन करता है वह 'स्याद्वाद' है।

भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ मनीषी डॉ. 'रामधारी सिंह दिनकर' का स्पष्ट अभिमत है कि 'अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा-साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।'

जैन दर्शन के मनीषी डॉ. भागेन्दु का स्पष्ट अभिमत है कि—जैन धर्म केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं, वरन् वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन-दर्शन का 'स्याद्वाद' या अनेकान्तवाद है। यह विश्व के दर्शनों में अनूठी वस्तु है। इसके महत्त्व को देशी-विदेशी सभी विचारकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

आज विश्व में अशांति का मूल कारण यही है कि एक मत या वाद को मानने वाले लोग अपने से भिन्न मत या वाद को मानने वाले लोगों को ऑख बन्द कर गलत समझते हैं। लोग अपने प्रतिपक्षियों के प्रति असहिष्णु हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में भी यह सत्य है कि कोई भी मत पूर्ण सत्य अथवा पूर्ण असत्य नहीं है। वस्तु एक ओर से जैसी दिखाई पड़ती है, दूसरी ओर से वैसी ही दिखाई नहीं पड़ती। अतः बिना विवेक के किसी भी मान्यता या मत को सर्वथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। सत्य को पहचानने के अनेक मार्ग हैं, सत्य के मार्ग पर आरूढ़ व्यक्ति के दुराग्रह और हठधर्मिता समाप्त

हो जाती है। सत्यान्वेषक की दृष्टि उदार होती है। समन्वय, सह-अस्तित्व और सहिष्णुता ये एक ही तत्त्व के नामान्तर हैं। जन साधारण को जीव-हिंसा से बचाने के लिए जैन-दर्शन ने कायिक अहिंसा का उपदेश किया, किन्तु चिन्तकों और विचारकों को हिंसामय प्रवृत्तियों से विरत करने के लिए मानसिक अहिंसा 'अनेकान्तवाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है उसे हम एक साथ पूरा नहीं कह सकते। उसके लिए सापेक्ष वर्णन शैली अपनाने की जरूरत है। जैसे कोई व्यक्ति किसी का पिता है तो वह सिर्फ पिता ही नहीं है। अन्य संदर्भो में पुत्र, पौत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भाई आदि अनेक रिश्ते भी उसके साथ सम्भव हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हमें जो कुछ कहना है सापेक्ष ही कहना है। ऐसा कहकर ही हम वस्तु स्थिति का सही कथन कर सकते हैं। पुत्र की अपेक्षा से ही उसे पिता कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्सटीन ने जिस 'थियोरी ऑफ रिलेटीविटी' (Theory of Relativity) का कथन किया है वह यही सापेक्षता का सिद्धान्त है। लेकिन वह सिर्फ भौतिक पदार्थो तक ही सीमित है। जैन दर्शन में इसे और भी व्यापक अर्थो में कहा गया है कि लोक के सारे अस्तित्व सापेक्ष हैं। उन्हें लेकर कहा गया कोई भी निरपेक्ष कथन सत्य नहीं है।

स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मो का निराकरण न करते हुए परस्पर मुख्य गौणता के साथ अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। उसे हम अपने ज्ञान के द्वारा जान तो सकते हैं किन्तु वाणी द्वारा उसका एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है। शब्द की एक सीमा होती है वह एक बार में वस्तु के किसी एक धर्म का ही कथन कर सकता है, क्योंकि **'सकृदुच्चारितः शब्दः एकमेवार्थं गमयति'** इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तु धर्म के साथ प्रकट करता है तो उससे वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता। किन्तु स्यात् पूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करने से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है, क्योंकि 'स्यात्'

पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ भी अन्य धर्मो का निषेध नहीं करता बल्कि उनकी मौन स्वीकृति बनाये रखता है। हॉ, जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण। क्योंकि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद कथंन में अनेकान्त सुव्यवस्थित रहता है।

'स्यात्' शब्द के इसी रहस्य को उजागर करते हुये **प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य** ने लिखा है कि—शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य का प्रतिषेध करने में वह निरंकुश हो जाता है। उस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान घटः' वाक्य घट के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह रूपवान ही है यह अवधारणा करके घड़े में रहने वाले रस, गंध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे यहॉ तक तो कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही स्वार्थ को सब कुछ मान शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तु स्थिति का विपर्यास करना है। स्यात् शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अनुस्यूत रहता है, और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है जिससे अहंकार का सृजन होता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व के मूर्धन्य मनीषी प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि "भारतीय दर्शन के समवायात्मक पक्ष का अनुशीलन करते समय हमारा ध्यान उस सिद्धान्त की ओर जाता है, जिसे जैन मनीषियों द्वारा 'अनेकान्तवाद' नाम से प्रतिष्ठापित किया गया। इस वाद की उद्‌भावना में समता और सहिष्णुता की वह भावना निस्सन्देह सहायक रही है जो जैन जीवन-दर्शन की एक मुख्य आधार भूमि है। आचार और विचार के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव, दूसरों के कथनों या मान्याताओं में दोष-दर्शन और विचार-स्वातन्त्र्य का विरोध, ये ऐसी परिस्थितियों को जन्म

देते हैं जो वैषम्य तथा कटुता बढ़ाती है। 'अनेकान्तवाद' ऐसी परिस्थितियों का सही उपचार है।"

'अनेकान्तवाद' दुराग्रह का प्रतिरोध प्रस्तुत करता है। विभिन्न विचारधाराओं के प्रति वह आदर-भावना को जागृत करता है तथा इस प्रकार सम्यक् विवेक-बुद्धि के उन्नयन में सहायक होता है। वह इस बात पर बल देता है कि देश-काल जन्य तथा अन्य परिस्थितियों के कारण सत्य के विभिन्न रूप संभव हैं और दूसरों के मतों में भी सत्य का अंश विद्यमान रहता है।

यह विचारधारा प्राचीन होते हुए भी किसी काल-परिधि में आबद्ध नहीं कही जा सकती। यह एक ऐसे कल्याणवाद शाश्वत सिद्धान्त के रूप में मान्य होना चाहिए, जो भूतकाल में ही नहीं वर्तमान और भविष्य में भी एक वैज्ञानिक तथ्य के समान उपादेय होता है।

अपरिग्रह : समता-मूलक समाज-व्यवस्था का ज्ञापक— जैन दर्शन में महाव्रत पाँच होते हैं। अपरिग्रह भी इनमें से एक है।

आचार्य उमास्वामी (ई. प्रथम शती) ने **'तत्त्वार्थसूत्र'** में परिग्रह का लक्षण-मूर्च्छा परिग्रह किया है। धन-धान्य, कुटुम्ब परिवार और अपने शरीर के प्रति उत्पन्न आसक्ति परिग्रह है। इस परिग्रह का पूर्णतया त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

आचार्य समन्तभ्रद (ई. द्वितीय शती) ने **'रत्नकरण्डश्रावकाचार'** में धन संचय की निरर्थकता को रेखांकित करते हुए कहा है—

'यदि पाप-निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम्।।
यदि पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।।

—आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार/27

अर्थात् 'यदि जीवन में पाप का निरोध हो गया तो वह निष्पाप-जीवन ही सबसे बड़ी सम्पदा है। फिर अन्य किसी सम्पदा का कोई अर्थ नहीं है। और यदि जीवन में पाप का आस्रव हो रहा हो, हमारा आचरण पापमय हो, तो

किसी भी सम्पदा से हमारे जीवन का उत्कर्ष होने वाला नहीं है। पाप के साथ आने वाली सम्पत्ति हमें दुर्गति के गर्त में ही ले जायेगी। ऐसी स्थिति में सम्पदा से क्या प्रयोजन?'

'जैन अनुशासन की आचार संहिता' में परिग्रह की लोलुपता को सभी पापों की जड़ बताते हुए कहा गया है—

'संग णिमित्तं मारइ, भणई अलीकं, करेज्ज चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण-मिच्छं, अपरिणामो कुणदि जीवो।।'

—समणसुत्तं

अर्थात् 'मनुष्य परिग्रह के लिए ही हिंसा करता है, संग्रह के निमित्त ही झूठ बोलता है और उसी अभिप्राय से चोरी के कार्य करता है। कुशील भी व्यक्ति के जीवन में परिग्रह की लिप्सा के माध्यम से ही आता है। इस प्रकार परिग्रह लिप्सा आज का सबसे बड़ा पाप है। उसी के माध्यम से शेष चार पाप हमारे जीवन में प्रवेश पा रहे हें। लिप्सा ही वह छिद्र है जिसमें से होकर हमारे व्यक्तित्व के प्रासाद में पाप का रिसाव हो रहा है।'

वस्तुतः परिग्रह की मूल कारण इच्छाओं/तृष्णाओं का कोई ओर-छोर नहीं है। वे अनन्त होती हैं। इसी दृष्टि से अर्धमागधी प्राकृत आगम 'उत्तराध्ययन सूत्र' में भी इच्छाओं को आकाश की तरह अन्तहीन निरूपित किया है—

'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।।' —उत्तराध्ययनसूत्र 6/48

अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है। इस सम्बन्ध में हम स्वयं प्रश्न करें तो उत्तर भी स्वतः स्फूर्त होकर हमारे समक्ष उपस्थिति हो सकेंगे। यथा—

हम दुःखी क्यों हैं?
इसलिए कि हम कुछ चाहते हैं।
इसका अर्थ?
अर्थ यही कि इच्छा स्वयं दुःख है।

जब तक इच्छा है, दुःख है।
जिसमें भी इच्छा है, दुःखी है।
इच्छा का जन्म क्यों होता है?
अपने भीतर अभाव की अनुभूति से।
इस अनुभूति का कारण?
आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान।
स्वरूप?
अनन्तान्दमय।

जब तक आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है व्यक्ति बाहर सुख की खोज में भटकता रहता है इसके लिए वह विषयों की शरण में जाने का प्रयास करता है, जहाँ सुख नहीं, केवल सुख का आभास है, अस्थायी या अचिरस्थायी सुख है। फिर विषयों से मन तृप्त कहाँ होता है? एक इच्छा के बाद दूसरी ओर छोटी के बाद बड़ी उत्पन्न होती ही रहता है। इच्छा की पूर्ति का प्रयास इसलिए विफल रहता है।

आचार्य पूज्यपाद (ई. 5वीं 6वीं शती) ने 'इष्टोपदेश' में लिखा है–

'आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतुं कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम्।।'

–आचार्य पूज्यपाद : इष्टोपदेश/15

अर्थात् जिस गति से काल व्यतीत होता है उसी गति से आपकी आयु भी क्षीण होती जाती है। इसके बाद भी आप अपनी प्रतिक्षण खिरती हुई आयु का कोई सार्थक उपयोग नहीं करना चाहते है। यह जानते हुए भी धन की ही आकांक्षा में लगे हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि आप अपने जीवन से अधिक, अपनी धन सम्पदा को चाहते हैं। आपकी बुद्धि विलक्षण है।

आचार्य गुणभद्र स्वामी (ई. 8वीं शती का उत्तरार्ध) ने **'आत्मानुशासन'** में लिखा है–

'आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं वियदायाति, वृथा वो विषयैषिता।।'

—आचार्य गुणभद्र : आत्मानुशासन/36

अर्थात् संसार में हर प्राणी के भीतर तृष्णा का इतना बड़ा गड्ढा है कि यदि उसमें विश्व की सारी सम्पदा डाल दी जाये, तब भी वह भरेगा नहीं, खाली ही रहेगा। ऐसी स्थिति में किसे क्या देकर संतुष्ट किया जा सकता है? विषयों की आशा और तृष्णा सदैव उन्हें दुःखी ही करती रहेगी।

आचार्य अमृतचन्द्र (10वीं 11वीं शती) ने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' में परिग्रह का लक्षण इस प्रकार दिया है—

'मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनाऽपि किल शेषसङ्गेभ्यः।।'

—आचार्य अमृतचन्द्र : पुरुषार्थसिद्धयुपाय/112

अर्थात् 'यदि कोई पुरुष सर्वथा नग्न अर्थात् सब प्रकार के परिग्रहों से रहित हो, परन्तु उसके अन्तरंग में मूर्च्छा का सद्भाव हो, तो वह परिग्रहवान ही कहलायेगा—अपरिग्रही नहीं। क्योंकि जहाँ-जहाँ मूर्च्छा होती है वहाँ परिग्रह अवश्य ही होता है' ऐसा नियम है और परिग्रह के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

लालसा से भरा हमारा मन जहाँ तक जाता है, वहाँ तक सब कुछ हमारा परिग्रह है। यह मन की लालसा चित्त को व्यामोह की कुंडली में कस लेती है। आचार्यो ने लालसा की इसी वृत्ति को 'मूर्च्छा' कहा है। जिसके मन में पर-पदार्थो के प्रति गहरी लालसा है, मूर्च्छा-भाव है, सारा संसार उसका परिग्रह है। जिसके मन से यह मूर्च्छा-भाव निकल गया है, संसार में रहते हुए भी संसार उसका नहीं है—

'मूर्च्छाच्छन्न-धियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवाऽपरिग्रहः।।'

जार्ज बर्नार्ड शॉ ने लिखा है–'हमारे जीवन में दो दुःखद घटनाएँ घटती है। पहली यह कि हमें अपनी मनचाही वस्तुएँ मिलती नहीं हैं। दूसरी यह कि वे हमें मिल जाती है।'

'There are two tragedies in life One is not to get your heart's desire The other is to get it!

-George Bernard Show

जोड़ने और जोड़ते ही चले जाने की धुन कभी किसी को सुखी नहीं बना पाई। परिग्रह ने जब दी है, प्यास ही दी है, तृप्ति देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परिग्रह की वाञ्छा आकुलताओं को जन्म दे सकती है, परन्तु अनाकुलता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परिग्रह की लालसा व्यक्ति को दौड़ाती बहुत है, परन्तु वह पहुँचाती कहीं नहीं। यही परिग्रह की यथार्थता है

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'आत्मा' से 'परमात्मा' की यात्रा करने वाला यह जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसकी मौलिक और स्वतन्त्र परम्परा है। यह किसी की शाखा नहीं है। अहिंसा जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है। जैन अनुशासन अहिंसा की ही मूलभित्ति पर खडा है। अनेकांत जैन विचार का मूलाधार है। वास्तु स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा करने वाले जैन धर्म में कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर जो समतामूलक समाज व्यवस्था दी गयी है वह जैन धर्म की अनन्य देन है।

शोध छात्रा
संस्कृत विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह (म.प्र.)

समयसार में 'स्फटिकमणि' का दृष्टान्त

-डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

आचार्य कुन्दकुन्द के परमागमों में समयसार को प्रथम स्थान प्राप्त है। आत्मा के स्वभाव और उनके गूढ़ रहस्यों का इतना सरल व इतना मार्मिक प्रतिपादन शायद ही कहीं अन्यत्र मिले। समयसार में रहस्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने अनेक स्थलों पर दृष्टान्त दिये हैं। इस दृष्टान्तों के प्रयोग इतने अधिक स्पष्ट तरीकों से किये गये हैं कि सिद्धान्त स्वतः स्पष्ट अवगम्य हो जाते हैं। व्यवहारिक जीवन के उदाहरणों को लेकर जिनसे आबाल-गोपाल सभी परिचित होते हैं, किसी गूढ़ रहस्य को समझा देने की कला से ओतप्रोत है समयसार।

यहां हम कर्मोदय जन्य रागादि भावों के प्रति आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व को आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रयोग में लाये गये एक दो उदाहरणों से समझेंगे।

तथ्य—

1. आत्मा में कर्मो का जो बन्धन होता है उसका कारण बतलाया जाता है आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि भाव। यह तथ्य अपने स्थान पर सही है क्योंकि आत्मा में यदि रागादि भावों की उत्पत्ति न हो तो उसके कर्मबन्ध का प्रश्न ही नहीं है।
2. उपर्युक्त कथन सामान्य आत्मा के लिए आया। शुद्ध चैतन्य मात्र जो आत्मा है उससे रागादि भिन्न भी कहे हैं।
3. रागादि आत्मा में कर्मबन्ध के कारण भी हैं और शुद्धचिन्मात्र आत्मा से भिन्न भी है।

समस्या – इस परिस्थिति में रागादि के होने में आत्मा निमित्त कारण है अथवा

नहीं? या फिर कोई अन्य कारण है?

समाधान : दार्ष्टान्त – शुद्ध स्वपरभेदविज्ञानी जो आत्मा है वह पूर्वकर्मोदयवशात् रागयुक्त होते हुये भी उसमें रागादि भावों के कर्तापने रूप भाव का अभाव होने से वह नये कर्मों का बन्धन नहीं करता। ऐसा ज्ञानी आत्मा जान चुका है कि वह खुद ही अपने रागादि परिणाम होने का निमित्त नहीं है, परन्तु जो परद्रव्य (कर्मादि, पुद्गल द्रव्य) हैं वे स्वयं रागादि भाव को प्राप्त होने से मेरे रागादिक के निमित्तभूत हैं। यही कारण है कि मैं (आत्मा) परिणामी होने से अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर ही रागादि रूप परिणमित होने लगता हूँ। किन्तु इससे मेरा (आत्मा का) अविनाशी विशुद्ध चैतन्यमात्र स्वभाव नष्ट नहीं हो जाता है।

समाधान का निष्कर्ष – आत्मा स्वभाव से तो अंत्यन्त शुद्ध ही है, जिस तरह का पर का निमित्त मिले वैसा ही परिणमता है।

दृष्टान्त – इस दार्ष्टान्त के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने इसकी सूक्ष्मता को समझते हुये 'स्फटिकमणि' का दृष्टान्त 278-79 वीं गाथा में प्रस्तुत किया है–'स्फटिकमणि आप तो केवल एकाकार शुद्ध ही है परन्तु जब परद्रव्य के निमित्त से लालिमा आदि का संयोग होता है तब वह लालिमा का रुप परिणमित हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी आत्मा का भी स्वभाव है। वह ज्ञानी आत्मा स्वयं शुद्ध है। वह रागादि भाव रूप स्वयं परिणमित नहीं होता है किन्तु अन्य रागादि परदोषों से रागादि रूप किया जाता है।'[1]

इसी दृष्टान्त को ही आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी आत्मख्याति टीका एवं कलश में 'सूर्यकान्तमणि' के माध्यम से समझाया है।

वे मानते हैं कि आत्मा में रागादिक होने का निमित्त परद्रव्य का सम्बन्ध ही है। सूर्यकान्तमणि खुद अग्नि रूप नहीं परिणमता उसमें सूर्य का निमित्त (उसका बिम्व) अग्नि रूप होने को निमित्त है।[2]

उक्त प्रकार की वस्तु व्यवस्था तथा वस्तु का स्वभाव ज्ञानी को ज्ञात है

इसलिए वह रागादिक को अपने में नहीं करता और इसीलिए वह रागादि का कर्ता नहीं है।[3]

यद्यपि ज्ञानी आत्मा भी राग की दशा में रागी ही है क्योंकि द्रव्य जिस समय जिस भाव रूप परिणमन करता है उस समय वह उस भाव रूप ही हो जाता है।[4] लेकिन इस दशा में भी ज्ञानी आत्मा रागादि का कर्ता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भेदज्ञान से स्वयं को शुद्ध रूप अनुभव करता हुआ उन रागादिक को अपने में नहीं करता है।

ज्ञानी की स्थिति – हमें ज्ञानी आत्मा और अज्ञानी आत्मा का भेद करना ही पड़ता है क्योंकि कर्तृत्व और अकर्तृत्व के निर्धारण का प्रमुख आधार यही भेद है। 'जो वस्तु स्वभाव को जानकर भेद विज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी आत्मा है वह स्वयं को पहचान चुका है कि वह द्रव्यदृष्टि से शुद्ध ही है इसलिए वह स्वयमेव अपने में राग-द्वेष मोह तथा कषायभाव नहीं करता है इसलिए वह इन भावों का कर्ता नहीं है।[5] वह द्रव्य दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है मात्र पर्याय दृष्टि से पर द्रव्य के निमित्त से रागादि रूप परिणमता है। वह तो उदय में आये हुए फलों का ज्ञाता ही है।

इस प्रकार यहां आचार्य कुन्दकुन्द ने 'स्फटिकमणि' के माध्यम से ज्ञानी आत्मा में पूर्वकर्मोदय वशात् होने वाले रागद्वेषादि भावों के प्रति अकर्तापना समझाया। यह दृष्टान्त बहुत बड़ी आध्यात्मिक समस्या का समाधान बहुत आसानी से समझा देता है। ज्ञानी के रागादि भावों के होते हुये भी वह उनका कर्ता नहीं तथा उनके निमित्त से उसको कोई नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार की गहराई को समझाना आसान नहीं है किन्तु आचार्य ने 'स्फटिकमणि' के दृष्टान्त से इस उलझन जैसे प्रतीत होने वाले सिद्धान्त को भी अत्यन्त सुगमता पूर्वक ऐसे समझाया कि बालक भी इस गहरायी को आसानी से समझ सकता है।

कर्तृत्वपना अज्ञान दशा में होता है। ज्ञान दशा होने पर आत्मा समस्त भावों की अकर्ता है ऐसी पहचान हो जाती है। इस आत्मा का जिस प्रकार

कर्तापने का स्वभाव नहीं है उसी प्रकार भोक्तापने का भी स्वभाव नहीं है। यह आत्मा अज्ञान से कर्ता माना जाता है। जब अज्ञान का अभाव हो जाता है तब कर्ता नहीं है।

(बी) तथ्य – जीव पर द्रव्य का कर्ता नहीं है।

समस्या – यदि जीव पर द्रव्य का कर्ता नहीं है तो कौन है?

समाधान दार्ष्टान्त – जीव और अजीव (पुद्गलादि कर्मादि) के जो परिणाम कहे गये हैं उन परिणामों से उस जीव अजीव को अन्य नहीं जानना क्योंकि परिणाम में वे द्रव्य ही हैं। यह आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए किसी का किया हुआ कार्य नहीं है और वह आत्मा किसी अन्य को भी उत्पन्न नहीं करता इसलिये वह किसी का कारण भी नहीं है, कर्म को आश्रय करके कर्ता होता है और कर्ता को आश्रय करके कर्म उत्पन्न होता है ऐसा नियम है। अन्य प्रकार से कर्ता कर्म की सिद्धि देखी नहीं जाती है।[7]

समाधान का निष्कर्ष – सभी द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने अपने परिणामों के कर्ता हैं। वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का कर्ता है, और उसके परिणाम कर्म है। अतः जीव परद्रव्य में कुछ नहीं करता और न ही परद्रव्य जीव का कुछ करता है। सभी अपने अपने में परिणमन करते हुए पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

दृष्टान्त – उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए आचार्य ने 'सुवर्ण के कड़े' का उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार कड़ा इत्यादि पर्यायें सुवर्ण से अलग नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है उन गुणों से वह अनन्य (अलग नहीं) है।[8]

द्रव्यमात्र अपनी ही पर्यायों का कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त पर्यायें होती हैं। वे पर्यायें ही उस द्रव्य की कर्म हैं। इस प्रकार द्रव्य मे ही कर्ता-कर्म

दोनों ही घटित हो जाते हैं। इसके लिए सोने का उदाहरण सटीक है। सोना, कुंडल, कंगन इत्यादि परिणामों का कर्ता है और ये परिणाम ही उसके कर्म हैं। अन्य द्रव्यों में उसका कर्तापना बिल्कुल भी नहीं है। फिर जो कि हमारी समस्या थी कि अन्य परद्रव्यों का कर्ता कौन? उसका समाधान यह है कि परद्रव्य भी स्वयं ही अपने परिणामों के कर्ता हैं, न कि कोई आत्मादि अन्य द्रव्य।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर दृष्टान्तों के माध्यम से वस्तु स्वभाव को समझाने का यत्न किया है। ये दृष्टान्त मनोविज्ञान के भी विषय है। ज्ञाता के मनोभावों एवं मानसिक स्तर को भांपते हुये वक्ता जब सटीक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है तब उसका अपना एक अलग ही महत्त्व होता है। कुन्दकुन्दाचार्य के दृष्टान्तों को ही लेकर अनुसंधान कार्य भी किया जा सकता है। अपने इस लघु आलेख में मैने मात्र दो उदाहरणों को प्रस्तुत किया है। हम भारतीय दर्शन और साहित्य पर यदि दृष्टिपात करें तो अनेक स्थल पर इन उदाहरणों का प्रयोग मिल जायेगा। अनुसंधान में यह भी यद्यपि अपेक्षित था किन्तु हमने स्वयं को समयसार तक ही सीमित रखा है।

सन्दर्भ

1 जहफलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमदू रायभाईहिं।
रगिज्जदि अण्णहि दु सो स्तादीहि दव्वेहि।।
एव वाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायभाईहि।
राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागदीहि दो सेहि।।

—समयसार-आचार्य कुन्दकुन्द, सपा प पन्नालाल
गाथा - 278, 279, पृ. 358, प्रका परम श्रु. प्रभा. म., अगास, 1982

2 न जातु रागादिनिमित्त भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त·।
तस्मिन्निमित्त पर सङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।

—आत्मख्याति टीका, कलश-175, वही, पृ 359

3 इति वस्तुस्वभाव स्वं ज्ञानी जानाति तेन स.।
रागादीन्नात्मनः कुर्य्यान्नातो भवति कारकः।।

—वही, कलश-176

4 परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्त।

—प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द प्रथमाधिकार गाथा-8
सम्पा. ए एन. उपाध्ये, प्रका-परमश्रुत प्रभा म, अगास, 1984

5 ण य रायदोसमोहं कुव्वादि णाणी कसाय भावं वा।
समयप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाण।।

—समयसार, गाथा-280, पृ 360

6 कर्तृत्व न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्ताय तदभावादकारक ।।

समयसार, कलश-194, पृ 395

7 जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु वेसिदा सुत्ते।
त जीवमजीव वा तेहिमणण्ण वियाणाहि।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्ज ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणभवि तेण ण स होदि।।
कम्म पडुच्च कत्ता कत्तार तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा।।

—समयसार, गाथा-309, 310, 311

8 दविय ज उप्पज्जइ गुणेहि त तेहि जाणसु अणण्ण।
जह कडयादीहि दु पज्जएहिं कणय अणण्णमिह।।

—समयसार, गाथा-308

व्याख्याता-जैन दर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली - 16

जैन इतिहास-लेखन की आवश्यकता

-डॉ. विजयकुमार जैन

इतिहास हमारी संस्कृति के विकास की गाथा है, जहॉ धार्मिक इतिहास हमारे धार्मिक मनोबल को बढ़ाता है, वही राजनैतिक इतिहास हमारे देश के गौरव को बढ़ाता है। भारत का धार्मिक एवं राजनैतिक इतिहास बहुत कुछ मिला जुला भी है, वे ही धार्मिक मान्यताएं ऐतिहासिक रूप ले पाती हैं जिनको राजनैतिक संरक्षण मिलता है विशेषकर वैदिक एवं बौद्धपरम्परा का इतिहास राजनैतिक संरक्षण प्राप्त कर पनपता रहा है। जैनपरम्परा ने प्रारम्भ में जरूर राजनैतिक संरक्षण प्राप्त किया पश्चात् स्वयं अपने श्रावकों, अनुयायियों की बदौलत अपना इतिहास दुहरा रही है। सही ही कहा गया है कि—

यह थे वीर जिनका नाम सुनकर जोश आता है।
रगों में जिसके अफसानो पे चक्कर खून खाता है।।

श्रमण परम्परा का वाहक जैनधर्म पहले आर्हत् धर्म आदि नामों से प्रसिद्ध था, जिनके उपासकों को आज जैन नाम दिया जाता है। जैनधर्म के इतिहास एवं जैन साहित्य का इतिहास नाम से प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। यह सामगी हमारे पास भरी पड़ी है, लेकिन अभी भी आवश्यकता है कि इसमें अवगाहन करके परिमार्जित रूप में हम प्रस्तुत करें अतः संक्षेप में महत्त्वपूर्ण सामग्री का परिचय दिया जा रहा है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा रचित तीर्थकर महावीर और उनकी परम्परा में समग्र मुनि परम्परा का तथ्यपूर्ण इतिहास है। श्रमणपरम्परा के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में श्रमणों की मान्यताओं एवं जैन सिद्धान्तों का भी सफल निरूपण किया गया है। चार भागों में प्रकाशित इस वृहत्काय ग्रन्थ में भगवान महावीर के बाद हुए आचार्यो, साहित्यकारों का परिचय देते हुए उनकी साधना एवं कृतित्त्व का विवेचन किया गया है। डॉ. कोठिया जी के शब्दों में भगवान

महावीर और उनकी आचार्य परम्परा में लेखक ने अपना जीवन-उत्सर्ग करके श्रद्धा के सुमन चढ़ाए हैं। भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी हीराबाग मुम्बई ने "भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ" पांच भागों में प्रकाशित किया है, जिसमें दिगम्बर जैन तीर्थो का इतिहास, भूगोल, पौराणिक आख्यान, स्थापत्य, यात्रामार्ग तथा उपलब्ध साधनों का परिचय दिया गया है। तीर्थक्षेत्रों के परिचय के लिए महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ हैं–

भाग-1 उत्तरप्रदेश के जैन तीर्थ

भाग-2 बिहार, बंगाल, उड़ीसा जैन तीर्थ

भाग-3 मध्यप्रदेश के जैन तीर्थ

भाग-4 राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के जैन तीर्थ

भाग-5 कर्नाटक, दक्षिण भारत के जैन तीर्थ

ऐतिहासिक व्यक्तिकोश के विद्वान लेखक डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा इतिहास के जैन स्रोतों और जैन विद्या के विभिन्न अंगों के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मूर्धन्य अधिकारी विद्वान थे।

भारतीय इतिहास-एक दृष्टि, युगों-युगों में जैन धर्म, जैन शिलालेख संग्रह, जैन धर्म का इतिहास-डॉ. कामता प्रसाद जैन, दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि, अशोक जैन था, सम्राट खारबेल, जैन वीरों का इतिहास, भगवान महावीर की अहिंसा और भारत के राज्यों पर इसका प्रभाव, काकन्दीपुर का देव, जैनधर्म और तीर्थकरों की ऐतिहासिकता और प्राचीनता, प्रतिमा लेख संग्रह आदि ग्रन्थ डॉ. कामता प्रसाद जैन के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वीरशासन के प्रभावक आचार्य-कस्तूरचन्द्र कासलीवाल एवं विद्याधर जोहरा पुरकर।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रमुख कृतियां इस प्रकार है–

पुस्तक प्रशस्ति-संग्रह, जैन साहित्य का इतिहास-पार्श्वनाथ विद्याश्रम से प्रकाशित, जैन साहित्य की पूर्व पीठिका-पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास- पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनदर्शन-पण्डित महेन्द्रकुमार जैन, साहित्य का इतिहास, परवार समाज का इतिहास-डॉ नाथूराम प्रेमी।

पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के शब्दों में विद्वानों की रुचि जैन इतिहास के प्रति कम है। इसे मानना ही पड़ेगा।

जैन पुराणों की प्रामाणिकता— जैनधर्म का इतिहास जानने के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पुराण हैं। इन पुराण ग्रन्थों के रचनाकाल और उनमें वर्णित घटनाओं के काल में अनेकों वर्षो का अन्तर है। इनकी ऐतिहासिक प्रमाणिकता इस बात पर अवलम्बित है कि वे कहाँ तक प्राकृतिक नियमों के अनुकूल मानवीय विवेक के अविरुद्ध व अन्य प्रमाणों के अप्रतिकूल घटनाओं का उल्लेख करते हैं। यदि ये घटनाए प्रकृति-विरुद्ध हो, मानवीय बुद्धि के प्रतिकूल हो, अन्य प्रमाणों से वाधित हो, तो वे धार्मिक श्रद्धा के सिवाय किसी अन्य आधार पर विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती पर यदि वे उक्त नियमों और प्रमाणों से बाधित न होती हुई पूर्वकाल का युक्तिसंगत दर्शन कराती हो।

अब तक के इतिहास-लेखन की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह कार्य बड़े महत्त्व का एवं श्रम-साध्य है।

विद्वानो का मानना है कि कोई भी धार्मिक इतिहास अपनी परम्परा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, उसी तरह राजनैतिक इतिहास तत्कालीन राजाओं से प्रभावित होता है फिर भी एक सीमा तक सच्चाई स्वीकार करनी चाहिए जैसे-भारत की गुलामी का इतिहास है उसे कैसे मिटा सकते है, भले ही उस समय कितने देश-भक्तों का गौरवपूर्ण इतिहास है उनकी कुर्बानी की गाथा है।

इसी प्रकार हमको धार्मिक उतार-चढ़ाव के बीच सच्चाई स्वीकार करनी *चाहिए। इससे एक बात महत्त्वपूर्ण है कि यह भ्रम हटाना* चाहिए कि सब कुछ पुराना अच्छा होता है क्योंकि पहले चोरी हुई होगी तभी अचौर्याणुव्रत का प्रतिपादन किया गया होगा, पहले हिंसा हुई होगी तभी हम अहिंसा की बात करेगे। इसलिए जो पहले है वह श्रेष्ठ है तब तो हिंसा श्रेष्ठ हो जाएगी।

हमारी कसौटी भी साक्ष्य के आधार पर पूर्णतया आधारित नहीं है। हमारी कसौटी है कि जो सिद्धान्त अहिंसा एवं वीतरागता का पोषक है उसके हम

समर्थक है। जो इसके विपरीत है वह हमारे लिए स्वीकार्य नहीं है। आज संघों में मात्र अपनी आचार्य परम्परा का इस प्रकार महत्त्व दिया गया है कि पहले की परम्परा विस्मृत हुई दिखाई देती है। श्वेताम्बर-दिगम्बर के झगड़ो एवं असंवेदशीलता ने तो पूरी द्वादशांग वाणी पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया।

एक बात जो मुख्य रूप से अखरने वाली बात है। वह है कि हमारे साहित्य को इतिहास के स्रोत के रूप मे उस तरह से स्वीकार नहीं किया जाता। जिस प्रकार बौद्ध ग्रन्थ एव रामायण महाभारत आदि को स्वीकार किया जाता है इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने साहित्य को व्यवस्थित रूप से अनुवाद सहित उपलब्ध कराएं।

आज हमारे पास जो ऐतिहासिक धरोहर है उनका भी हम सही मूल्याङ्कन नही करा पा रहे है जैसे भारतवर्ष का नाम-भरत के आधार पर हुआ जैसे भारत का प्रथम गणतन्त्र वैशाली था।

हमको दिगम्बर/श्वेताम्बर के आपसी मतभेदों को कुछ सीमाओं तक तोडना होगा जैसे-आगमों के सन्दर्भो में आदि।

इस प्रकार जैन इतिहास के लेखन में अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

—केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
लखनऊ

पदार्थों का त्रिलक्षणात्मक एवं त्रिपदात्मक स्वरूप और स्व-समय प्रवृत्ति

–डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

हीरा काष्ट की प्रजाति का है। हीरे की काणिकाओं के घर्षण से ही उसमें मन मोहक चकाचौंध उत्पन्न होती है। इस प्रकार हीरे की चमक हीरे में से हीरे द्वारा हीरे में आती हैं। इस स्थूल ज्ञान से प्रायः सभी परिचित है। हीरे को उच्च ताप स्तर पर दग्ध करने पर वह कोयले में परिवर्तित हो जाता है। अवस्था परिवर्तन की प्रक्रिया मे वही कोयला अपनी उपादान शक्ति की योग्यता से फिर काष्ट हीरा में बदल जाता है। द्रव्यों में परिवर्तन की यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है। द्रव्य का अस्तित्व होकर भी वह अपने स्वभाव को कायम रखकर नित-नीवन रूप से बदल रहा है और बदलता रहेगा। कोई भी परिवर्तन अहेतुक नहीं है। सर्वत्र कारण-कार्य व्यवस्था प्रभावशील है, यद्यपि कभी-कभी यह परिवर्तन कौतुहल जैसा लगता है। इस परिर्वतन को किसी ने क्षण-भंगुर अवस्था-रूप देखा तो किसी ने कूटस्थ-नित्य-द्रव्य रूप में देखा। वेदानुयायीयो ने इसे ईश्वर कृत मानकर सृजक-ब्रह्मा, संरक्षक-विष्णु और संहारक-महेश के कार्य रूप देखा। अंग्रेजी भाषा में ईश्वर को गौड (GOD) कहते हैं। यह जी. ओ. और डी. अक्षर से बना है। उन्होंने जी से जेनरेटर, ओ से आपरेटर और डी से डिस्ट्रक्टर रूप में स्वीकार किया है। पदार्थ-विज्ञानियों ने वस्तु स्वरूप की इन तीन अवस्थाओं को न्यूट्रान इलेक्ट्रान एवं प्रोटान के रूप में मान्य किया। जिनेन्द्र देव प्रणीत जैन दर्शन मे द्रव्यों के सत-स्वरूप के त्रिलक्षणात्मक एवं त्रिपदात्मक रूप में इसे व्याख्यायित कर लोक की स्वचालित व्यवस्था का तार्किक-यर्थाथ आधार प्रदान किया गया है।

जैनदर्शन और आत्मशोधन रूप जैन धर्म मे 'तीन' का विशिष्ट स्थान है। लगता है दर्शन और धर्म तीन-त्रिपद की धुरी पर ही घूम रहा है। तीन-लोक,

तीन-काल और तीन-वलय। त्रिरत्न-मोक्षमार्ग और त्रिदोष-संसार मार्ग। तीन-चेतना, तीन-गुप्ति, तीन-उपयोगी, तीन-करण, तीन-परिणाम, तीन-कर्म, तीन-बंक, तीन-निदान, तीन-भाव, तीन-गारव, तीन-मकार। सत-स्वरूप त्रिलक्षणात्मक और त्रिपदात्मक तथा वस्तु को जानने के तीन साधन।

पंचास्तिकाय संग्रह ग्रंथ में आचार्य कुन्दकुन्द ने लोक की तत्वव्यवस्था एवं कारण-कार्यत्व के शाश्वत सिद्धान्त की घोषणा करते हुए कहा कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की उत्पाद नहीं है, भाव-सत् द्रव्य-गुण-पर्याय में उत्पाद व्यय करते हैं। प्रकारान्तर से उत्पाद होने से कहीं असत् की उत्पत्ति नहीं होती और व्यय होने से कहीं सत् का विनाश नहीं होता। आचार्य के शब्दों में—

भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्य चेव उत्पादो
गुण पज्जाएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति (पंचा. सं. 15)

जीवादि द्रव्य भाव हैं जिनका कभी नाश नहीं होता और अभाव का उत्पाद नही होता। मनुष्य से देव पर्याय पाने में जीव जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त करता है तथापि जीव उत्पन्न नहीं होता और नष्ट नहीं होता; देव, मनुष्य ऐसी पर्याय उत्पन्न होती और विनष्ट होती है (गा. 17-18)। यहाँ ध्रुवता की अपेक्षा सत् का विनाश या असत् का उत्पाद नहीं कहा (पं. गा 19)। मनुष्य, देव आदि पर्यायों मे जीव के जन्म-मरण के रहस्य में जो त्रिलक्षणात्मक एवं त्रिपदात्मक सत्-सिद्धान्त प्रभावशील होता है वही सिद्धान्त लोक के सभी द्रव्यों, तत्वों एवं पदार्थो को नियंत्रित-अनुशासित करता है। इस दृष्टि से सत् स्वरूप अकृत, अहेतुक, अनादि-निधन, स्व-संचालित लोक व्यवस्था का आधार है जो अनंत काल तक निर्वाध रूप से गतिमान होकर लोक के अस्तित्व को बनाऐ रखेगा।

अध्यात्म जगत में सत् स्वरूप की उपयोगिता समझने हेतु, द्रव्य के सत्-स्वरूप की व्याख्या के पहिले, यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि जीव अनादि काल से तत्त्वस्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न जिन कारणों से दुखी है, वे निम्न प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ हैं—

1. द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्मो में 'यह मैं हूँ' और मुझमें 'यह कर्म-नो कर्म हैं, (समयसार गा. 19)। पर से एकत्व-ममत्व भाव।
2. 'मैं पर जीवों को मारता हूँ या पर जीव मुझे मारते हैं,' 'मैं पर जीवों को जिलाता हूँ या पर जीव मुझे जिलाते हैं' तथा 'मैं पर जीवों को सुखी-दुखी करता हूँ या पर जीव मुझे सुखी-दुखी करते हैं' ऐसी मोह-अज्ञान रूप मान्यता (स. सार गा. 247, 250, 253)। पर के कर्तृत्व-स्वामित्व की भावना।
3. मैं कर्म प्रकृति के निमित्त से उपजता-निशता हूँ और कर्म फल भोगता हूँ (स. सार गा. 314/315) परतन्त्रता एवं परावलम्बन की भावना।
4. पदार्थ के स्वरूप को नहीं जानना, समझना और (आत्म विस्मृतकर) पर-द्रव्य को अपना मानना (गा. 324)। अविद्या-मोह की निष्पत्ति।
5. अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव उत्पन्न होने के कारण निरंतर कर्म बंध को करता है (स. सा. गा. 126, 127)। कर्मोदय-कर्मबध के दुष्चक्र का मूल अज्ञानमय भाव एव पर-समय प्रवृत्ति है।

जीव के उक्त दुःख के कारणों का विनाश दीपक-प्रकाश जैसा उस समय हो जाता है जब जीव द्रव्य के सत्-सिद्धान्त के हार्द को तत्व निष्ठा पूर्वक समझकर आत्मानुभव एवं शुद्धोपयोग द्वारा कर्म-बंधन काट सिद्धालय में अविनाशी, अतीन्द्रिय, आत्मीक-आनंद का भोग चिरकाल तक करेगा। इसका प्रारम्भ होगा सम्यग्दर्शन-ज्ञान से। आचार्य कुन्द-कुन्द के शब्दों में भूतार्थ रूप से अवस्थित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष का श्रद्धान-सम्यग्दर्शन है (सार गा. 13)। इन नव पदार्थो के मध्य छिपी आत्मा की ज्ञान ज्योति द्रव्य के सत् स्वरूप के ज्ञान एवं निज आत्मतत्व के भाव भासन से प्रकाश मात्र होती है इस दृष्टि से सत् सत्ता के सूचक के साथ सत्य-धर्म अर्थात् Truth is God, सत्य ही ईश्वर है का सूचक है। यह ऐसा है जो 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की लोकोक्ति को चरितार्थ करता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्य का एकत्व-विभक्त रूप ही सौंदर्य का प्रतीक है।

त्रिलक्षणात्मक सत्-स्वरूप— आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य का लक्षण सत् कहा

है। **'सत् द्रव्य लक्षणं'** (सूत्र 5/29) और सत् का लक्षण **'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'** कहा है (सूत्र 5/30)। सत् सत्ता-अस्तित्व का सूचक है। सत्ता स्वभावतः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होती है। अपने मौलिक तत्त्व अर्थात् द्रव्यत्व को स्थिर (ध्रौव्य) रखकर पूर्व कारण रूप पर्याय का विनाश और उत्तर कार्य रूप पर्याय की उत्पत्ति होना, प्रत्येक द्रव्य की त्रिकाल नियति है। यह तीनों कार्य एक ही समय में होते हैं। इसलिए द्रव्य नित्यानित्य है। नित्य होते हुए भी कथंचित् अनित्य है और अनित्य होते हुए भी कथंचित नित्य है। द्रव्य रूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य। इस प्रकार द्रव्य त्रिलक्षण रूप है।

'सत् द्रव्य लक्षण' सूत्र मे सत् शब्द अनेकार्थी है। धवला के टीकाकार आचार्य वीरसेन के अनुसार सत् का अर्थ तत्त्व है। यह सत् सर्व पदार्थो में व्याप्त है और सर्व विचारों का आधार है। आचार्य अकलंकदेव ने सत् शब्द का प्रयोग प्रशंसा, अस्तित्व प्रतिज्ञा एवं आदर सूचक के रूप मे किया है। विद्यमान संदर्भ में सत् शब्द सर्व द्रव्यो के अस्तित्व-सत्ता का सूचक है। सत् की गति सर्व पदार्थो में अप्रतिहत होने से वह त्रैकालिक है वह स्वयं सिद्ध एवं अहेतुक होने से सर्वत्र सर्व अवस्थाओं में पाया जाता है। सत् गुण, सत्ता, तत्व, द्रव्य, वस्तु, अर्थ, विधि एव अस्तित्व का सूचक है।

सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। वस्तु स्वभाव का यह त्रैकालिक सत् ही धर्म रूप सत्य है जो विश्व व्यवस्था का आधार है। इसके कारण सभी पदार्थ। वस्तुएं विश्व में अनादि काल से अवस्थित हैं और अनंत काल तक बनी रहेंगी। सभी पदार्थ अपने-अपने शुद्ध स्वभाव अर्थात् परमपारिणामिक भाव रूप सदैव बने रहें, उनमें किसी प्रकार की विकृति न हो, कोई पदार्थ एक-दूसरे की सत्ता का अतिक्रमण न करे, केवल अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में निर्विकार रूप से परिणमित होते रहें, यही उनका सौन्दर्य आनंद और सत्/सत्य रूप धर्म है।

लोक छह द्रव्यों का समूह है— जीव, पुदग्ल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव द्रव्य चेतन है शेष अचेतन हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है, शेप अरूपी हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे भी अनंत अर्थात अनतानंत हैं।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक है और काल द्रव्य असंख्यात हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी होने के कारण अनस्तिकाय है, शेष द्रव्य बहु प्रदेशी होने से अस्तिकाय रूप हैं। जीव और पुद्गल द्रव्य में स्वभाव और विभाव रूप परिणमन करने की क्षमता है जबकि शेष चार द्रव्यों का परिणमन निरंतर शुद्ध ही रहता है। जीव और पुद्गल द्रव्य परिणामी, क्रियावती शक्ति वाले हैं। शेष चार द्रव्य अपरिणामी-निष्क्रिय हैं।

विश्व में नित नवीन परिर्वतन का आधार सत् द्रव्य का त्रिलक्षण स्वभाव है। चेतन-अचेतन द्रव्यों में अंतरंग और बहिरंग निमित्त से प्रति समय नवीन अवस्था प्राप्त होती है, उसे उत्पाद कहते हैं, उत्पाद दो प्रकार का है— स्वनिमित्तिक उत्पाद यथा-अगुरूलघु गुण का बर्तन और परनिमित्तिक उत्पाद-धर्मादिक निष्क्रिय द्रव्यों में पर प्रत्यय की अपेक्षा उत्पाद अश्वादिक की गति स्थिति अवगाहन पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं जैसे घर की उत्पत्ति में पिण्ड रूप आकार का त्याग हो जाता है। द्रव्य का जो अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका उत्पाद और व्यय नहीं होता किन्तु वह स्थिर रहता है। इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य कहलाता है। जैसे मिट्टी घर और पिण्ड में मिट्टी का अन्वय होना। इस प्रकार एक ही द्रव्य/पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्यत्व (स्थिति) एक साथ होती है। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वही कुछ काल तक स्थित रहकर बाद में व्यय को प्राप्त होता है। उत्पत्ति और व्यय मे द्रव्य का अन्वय बना रहता है। आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य को केवल सामान्य रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप बताया गया। आचार्य समन्तभद्र प्रतिपादित किया कि वस्तु का सामान्य रूप से न तो उत्पाद होता है और न विनाश। किन्तु उत्पाद और विनाश विशेष रूप से होता है। इस प्रकार द्रव्य का उत्पाद और विनाश नही होता मात्र पर्याय का ही होता है। विनाश और उत्पन्न पर्यायों में द्रव्य का अन्वय सदैव बना रहता है।

उत्पाद और विनाश द्रव्य का नहीं होता, उसका सदभाव बना रहता है। किन्तु उसकी पर्यायें उत्पाद-विनाश व ध्रुवता करती हैं (प्रसार 11) निश्चय से उत्पाद विनाश और ध्रौव्य ये तीनों पर्यायों के होते हैं। सत् के नहीं। क्योंकि

वे पर्यायें ही द्रव्य है, इसलिये द्रव्य ही उत्पादादि तीनों वाला कहा जाता है (पंचाध्यायी पूर्वी 200)। पर्याय भी कथंचित ध्रुव है क्योंकि उसकी स्थिति एकक्षण की होती है। द्रव्य में उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य यह तीनों युगपत (अक्रम) से एक साथ होते हैं। किन्तु पर्याय में उत्पाद विनाश और स्थिति क्रम से होती है।

उक्तानुसार एक लोक में सभी चेतन और जड़ पदार्थ स्वतंत्र सत्ता लिए त्रिलक्षण रूप से अपने स्वभाव में अवस्थित हैं। ऐसी स्थिति में जीव और जड़ कर्म के बंधन तथा क्रोधादिक रूप परिणमन क्यों और केसे होता हैं, इसकी मीमांसा आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार में की है। उनका तर्क है कि यदि जीव स्वयं कर्म से नहीं बंधा और स्वयं क्रोधादि रूप परिणमन नहीं करता तो वह अपरिणामी ठहरता है, ऐसा होने पर संसार का अभाव प्राप्त होता है। यह कहना कि अपरिणामी जीव को क्रोधादि कर्म क्रोधादिक रूप से परिणमा देते हैं तो यह बात युक्ति युक्त नहीं लगती क्योंकि जीव को स्वयं परिणमन स्वभाव वाला नहीं मानने पर क्रोधादि कर्म उसे क्रोधादिक रूप से कैसे परिणमा सकते हैं? अर्थात् नहीं परिणमा सकते। यदि इस दोष को दूर करने जीव को स्वयं परिणमन शील मानते हैं तो क्रोधादि कर्म जीव को क्रोधादि भाव रूप से परिणमाते हैं यह बात मिथ्या हो जाती है। इससे यही फलित होता है कि जब जीव स्वयं क्रोध रूप से परिणमन करता है तब वह स्वयं क्रोध है, जब स्वयं मान रूप परिणमन करता है तब वह स्वयं मान है (स. सार गा. 116 से 120 व 125)। उन्होंने इसी प्रकार पुद्गल कार्माण वर्गणाओं का ज्ञानावरणदिक कर्म रूप परिमणमन करने की मीमांसा की और उसका प्रमुख कारण परिणमन स्वभाव को सिद्ध किया।

जीव कर्म रूप और कर्म जीव रूप क्यों परिणमित नहीं हो सकते उसका समाधान समयसार गाथा 103 में इस प्रकार दिया है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं (स. सार 103)

अर्थ— जो जिस द्रव्य या गुण में अनादि काल से वर्त रहा है वह उसे

छोड़कर अन्य द्रव्य या गुण में कभी भी संक्रमित नहीं होता। अन्य रूप से संक्रमित नहीं होती हुई वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है?

वस्तु की इस मर्यादा के कारण आत्मा पुद्गलमय कर्म में द्रव्य को तथा गुण को नहीं करता ऐसी स्थिति में आत्मा कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है? निमित्त नैमित्तिक भाव से ऐसा कथन उपचार मात्र है। आत्मा में और कर्ता कर्म भाव की सिद्धि नहीं होती।

इस प्रकार दो द्रव्य एवं गुणों के मध्य स्वतंत्रता के बोध से यह सिद्ध हुआ कि जीव अपने अज्ञान भाव से दुःखी है क्योंकि आत्मा जिस भाव को कर्ता है, उस भाव रूप कर्म (कार्य) का वह कर्ता होता है; ज्ञानी को तो वह ज्ञानमय है और अज्ञानी को अज्ञानमय है (स. सार. 126) इस न्याय के अनुसार जीव जिन शुभ या अशुभ भाव रूप परिणमन करता है तब वह शुभ या अशुभ स्वयं ही होता है और जब वह शुद्धभाव रूप परिणमित होता है तब वह शुद्ध होता है (प्र. सार 9)। शुभ से स्वर्गादिक, अशुभ से नीच गति एवं शुद्ध से सिद्धत्व मिलता है।

उक्त कथन से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि लोक में जितने भी कार्य होते हैं, वे सब उपादान शक्ति से होते हैं। मिट्टी से घर और कपास से पट बनता है। आचार्य जयसेन के अनुसार उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है। ज्ञान-भाव रूप उपादान से ज्ञानमय भाव ही होता है और अज्ञान-भाव रूप उपादान से अज्ञानमय भाव होता है (स0 सार0 तात्पर्यवृत्ति गाथा 186 टीका)। इस पदार्थ ज्ञान के इस गूढ़ रहस्य को हृदयंगम करने वाले महानुभाव को शुद्धात्मा जानने-अनुभव करने पर अशुद्धात्मा प्राप्त होता है (स0 सार गा. 186) और शुद्धात्मा की उपलब्धि से कर्मागमन के अभाव रूप संवर होता है।

सत्-स्वरूप-अनुभव से स्व-समय की प्राप्ति— दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित भव्य जीव स्व-समय है, पुद्गल कर्म-प्रदेश स्थित जीव पर-समय है (स. सार 2)। जो जीव पर्याय में लीन है वह पर-समय है और जो आत्म स्वभाव में लीन है वह स्व-समय है (प्र. सार. 94) पर्याय-मूढ़ मिथ्यादृष्टि होता है। सत् स्वभाव

की अस्वीकृति भी पर-समय है (प्र. सा. 98)।

जीवादिक सभी द्रव्य सत् स्वरूप होने से अनादिकाल से अपने-अपने पारिणामिक भाव रूप धुरी पर ध्रुव रूप से पृथक-पृथक गुणों के क्रम बद्ध उत्पाद-व्यय के रूप में परिणमित होकर स्वतंत्र-स्वाधीन, पर निरपेक्ष सत्ता बनाये हुए हैं जिससे लोक संचालित हो रहा है। उसका कोई निर्माता-रक्षक-विध्वंसक नहीं है। जीव और पुदग्ल कर्म-बंध का कारण जीव का अज्ञान भाव एवं पदार्थो का अयर्थाथज्ञान है। उसने अपने ज्ञायक स्वभाव रूप पारिणामिक ध्रुव भाव को विस्मृत कर मतिज्ञानादि गुणों एवं नर-नरकादि पर्यायों को अपना मान लिया है। तदनुसार पर्यायलीन होकर पर-समय रूप प्रवृत्त होकर दुःखी हो रहा है। वह अपनी भूल सुधार कर यदि पदार्थो के यथार्थज्ञान सहित आत्मा के ध्रुव स्वभाव पर श्रृद्धान करे और उसमें अपनापन स्थापित करे तो शुद्ध नय की विषय भूत-सामान्य, अभेद, नित्य और एक आत्मा वस्तु का अनुभव कर स्व-समय रूप प्रवृत्त होकर शुद्धोपयोग के द्वारा मुक्त-स्वतंत्र हो सकता है।

लोक व्यवहार में सत्-स्वरूप की स्वीकृति एवं स्व-आत्मा सत् की अनुभूति से साधक में सम्पूर्ण द्रव्यों एवं उनके परिणमन के प्रति अस्तित्व बोध का भाव जाग्रत होता है। उनकी सत्ता की स्वीकृति से उनके प्रति सहज-आदर भाव और समत्व भाव हृदय में उत्पन्न होता है। जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करूणा और माध्यस्थ्यरूप भाव का स्रोत संत्-स्वभाव से उदगामित होकर केवल-ज्ञान गंगा में अवगाहन कराता है। सत् स्वरूप की स्वीकृति, विभाव-भाव की विस्मृति और ज्ञायक- स्वभाव की उपलब्धि यह भी सत् की चरम परिणति है। आत्म-सिद्धि ही सत्-साधना का सुफल है।

द्रव्य का त्रिपदात्मक लक्षण— द्रव्य त्रिलक्षणात्मक के साथ त्रिपदात्मक भी है। इस सम्बन्ध में प्रवचन सार की ज्ञेय तत्व प्रज्ञापन की निम्न गाथा महत्वपूर्ण है-

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढ़ा हि पर समयः (गा. 93)

अर्थ– पदार्थ द्रव्य स्वरूप है; द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों की पर्यायें होती हैं। पर्याय-मूढ़ (पर्याय में लीन) जीव पर समय-अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पदार्थ को द्रव्य गुण पर्याय रूप त्रिपदात्मक कहकर मनुष्य देव आदि असमानजातीय पर्याय को अपना मानने एवं द्रव्य स्वभाव को विस्मृत करने वाले जीव को परसमय -मिथ्यादृष्टि कहा है।

आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में सत् द्रव्य के साथ 'गुणपर्ययवद द्रव्यम' (सूत्र 5/38) कहकर द्रव्य को गुण पर्यायवान कहा है। 'अन्वयिनो गुणा' गुण अन्वयी होते हैं और द्रव्य के साथ सदैव रहते हैं। 'व्यतिरेकिणः पर्यायाः' पर्याय व्यतिरेकी या क्षणमंगुर होती हैं। प्रत्येक द्रव्य में सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें होती हैं। गुण अन्वय-स्वभाव होने से ध्रौव्य के अविनाभावी हैं और पर्याय व्यतिरेक-स्वभाव होने से उत्पाद और व्यय के अविनाभावी हैं। इस दृष्टि से द्रव्य का त्रिलक्षणात्मक सत् स्वरूप एवं त्रिपदात्मक स्वरूप दोनों का एक ही अभिप्राय है किन्तु कथन का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य भिन्न-भिन्न होकर भी स्व-समय में प्रवृत्ति का उद्देश्य एक ही है।

गुण– द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने 'द्रव्याश्रिया निर्गुणा गुणाः' (सूत्र 5/41) अर्थात जो द्रव्य के आश्रय से रहता हुआ भी दूसरे गुण से रहित है, उसे गुण कहते हैं, के रूप में परिभाषित किया है। न्यापदीपिकाकार के अनुसार जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त होकर रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहने वाले हैं, उन्हें गुण कहते हैं। द्रव्य और गुण के मध्य आधार-आधेय सम्बन्ध होता है। द्रव्य आधार है और गुण आधेय। गुण द्रव्य के आश्रय रहते हैं किन्तु गुण के आश्रय से अन्य गुण नहीं रहते हैं। गुणों के मध्य आधार-आधेय एवं कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं होता। एक गुण दूसरे गुण से स्वतंत्र होता हुआ भी साथ-साथ रहते हैं। गुणों के मध्य अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार द्रव्य और· गुणों के मध्य नित्य तादात्मय सम्बन्ध होता है। इस कारण द्रव्य से गुण कभी भिन्न नहीं होते।

प्रत्येक द्रव्य में अनंत गुण होते हैं। गुण दो प्रकार के होते है:– सामान्य और विशेष। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरूलघुत्व और प्रदेशत्व यह छह सामान्य गुण सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। अन्य सामान्य गुणों में जीव चेतन और अमूर्तिक हैं। पुद्गल अचेतन और मूर्तिक है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल अचेतन और अमूर्तिक हैं। इस प्रकार दो-दो गुण सामान्य में सम्मलित हो जाते हैं (नय चक्र वृ. 16)। द्रव्यों के विशेष गुण इस प्रकार हैं– जीव-ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनंत गुणों वाला है। पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श गुण वाला है। धर्म द्रव्य गति हेतुत्व, अधर्म द्रव्य स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य-अवगाहन हेतुत्व और काल द्रव्य-परिणमन हेतुत्व स्वभाव वाले हैं।

द्रव्य के गुण स्वभाव और विभाव रूप में भी वर्गीकृत हैं। जीव और पुद्गल द्रव्यों का परिणमन स्वभाव और विभाव रूप में होता है। क्रियारती शक्ति उसका आधार है। जीव द्रव्य की दृष्टि से केवलज्ञानादि जीव का असाधारण स्वभाव गुण है और अगुरूलघुत्व साधारण स्वभाव गुण है। मति श्रुत आदि ज्ञान जीव के विभाव गुण हैं। इसके भी दो भेद हैं– सम्यग्मति श्रुतादि और मिथ्या मतिश्रुतादि। जीव जब पारिणमिक भाव रूप ज्ञायक ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेता है तब आत्मानुभूति पूर्वक सम्यग्ज्ञानादि की उत्पत्ति होती है। यह सम्यग्ज्ञानादि के आश्रय से ही केवलज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती है। इसे साधन-साध्य भाव कहते हैं। इसके अनुसार शुद्ध गुणांश से पूर्णता की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से द्रव्य-गुण-पर्याय त्रिपद में गुण का विशेष महत्व हैं। पर्याय तो क्षणिक होने से हेय-पर समय कही गयी है।

पुद्गल द्रव्य का स्वभाव परिणमन परमाणु के रूपादि गुण हैं। विभाव परिणमन स्कंध के विभाव गुण हैं। शेष चार गुणों का परिणमन स्वभाव रूप ही कहा गया है।

स्वभाव रूप गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं, जैसे–सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, आदि। वस्तु के अभाव-रूप गुणों को धर्म के प्रतिजीवी गुण कहते हैं, जैसे वस्तुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि। प्रागभाव,

प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुण स्वरूप अभाव अंश माने जाते हैं।

शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति सब शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। लक्षण, गुण, अंग ये सब एकार्थवाची शब्द हैं (पं. ध./उ/478)।

पर्याय— द्रव्य अनंत गुणों का पिण्ड है। गुणों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जो पर्याय कहलाता है। द्रव्य की परिणति या कार्य तथा द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं। जो सर्व और भेद को प्राप्त करे सो पर्याय है—'परि समन्तादायः पर्यायः' (रा. वा. 1/33/1/95/6)। पर्याय का अर्थ वस्तु का अंश है। वह दो प्रकार का है— ध्रुव अन्वयी और क्षणिक व्यतिरेकी। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। पर्याय गुणों के विशेष परिणमन रूप हैं। पर्यायें क्रम भावी/क्रम नियमित क्षणिक होती हैं। वे भी कथंचित सत् हैं। पर्याय शुद्ध-अशुद्ध उपादान की तत्काल की योग्यतानुसार उत्पन्न-विनाश को प्राप्त होती रहतीं है। कारण अनुसार कार्य होता है। कारणों का समूह 'समवाय' कहा जाता है, वे पॉच हैं :— स्वभाव, निमित्त, नियति (होनहार), पुरूषार्थ और भवितव्य। इनमें 'स्वभाव' द्रव्य है, शेष पर्यायें हैं। जीव के पाँच भावों में पारिणामिक भाव स्वभाव भाव है, शेष चार भाव पर्यायें हैं।

पर्याय के भेद जानना भी अपेक्षित है। पर्याय दो प्रकार की है— द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय। अन्य प्रकार से इसके दो भेद है— व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय। पर्यायें स्वभाव और विभाव रूप दो-दो प्रकार की होती हैं यथा— स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण पर्याय और विभाव गुण पर्याय। अर्थ व गुण पर्याय एकार्थी हैं तथा व्यंजन व द्रव्य पर्याय एकार्थवाची हैं। द्रव्य (व्यंजन) पर्याय भी दो प्रकार की है—समानजातीय द्रव्य पर्याय जैसे स्कंध और असमान जातीय द्रव्य पर्याय जैसे नर, देवादिक की जीव-पुद्गलात्मक पर्याय। व्यंजन पर्याय स्थूल-शब्द गोचर है। गुण पर्याय सूक्ष्म ज्ञान विषयक है।

कर्मोपाधि रहित पर्यायें स्वभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय है जैसे सिद्ध एवं अविभागी परमाणु। कर्मोपाधिसहित पर्यायें विभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय है जैसे मनुष्य, देव एवं पुद्गल एकंघ। द्रव्य कर्म एवं भाव कर्म से रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य जीव द्रव्य की स्वभाव गुण पर्याय है। परमाणु के रूप रसादि पुद्गल द्रव्य की स्वभाव गुण पर्याय है। मति, श्रुत अवधि व मनःपर्याय ये चार ज्ञान एवं तीन अज्ञान ये सब जीव द्रव्य की विभाव गुण पर्याय है। इसके भी ज्ञान-अज्ञान विभाजक सम्यक्-मिथ्या रूप दो भेद हैं। जीव-पुद्गल द्रव्य परिणामी होने से उनकी पर्यायें स्वभाव-विभाव रूप होती हैं। शेष चार द्रव्यों की विभाव गुण पर्याय नहीं होती।

स्वभाव गुण पर्याय के भी दो भेद हैं—कारण शुद्ध पर्याय और कार्यशुद्ध पर्याय। पारिणामिक भाव की परिणति कारण शुद्ध पर्याय है। द्रव्य, गुण और पारिणामिक भाव की परिणति रूप कारण शुद्ध पर्याय को कारण परमात्मा भी कहते हैं। इसके आश्रय से केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्राप्ति कार्य शुद्ध पर्याय कहलाती है। इसे ही कार्य परमात्मा भी कहते हैं।

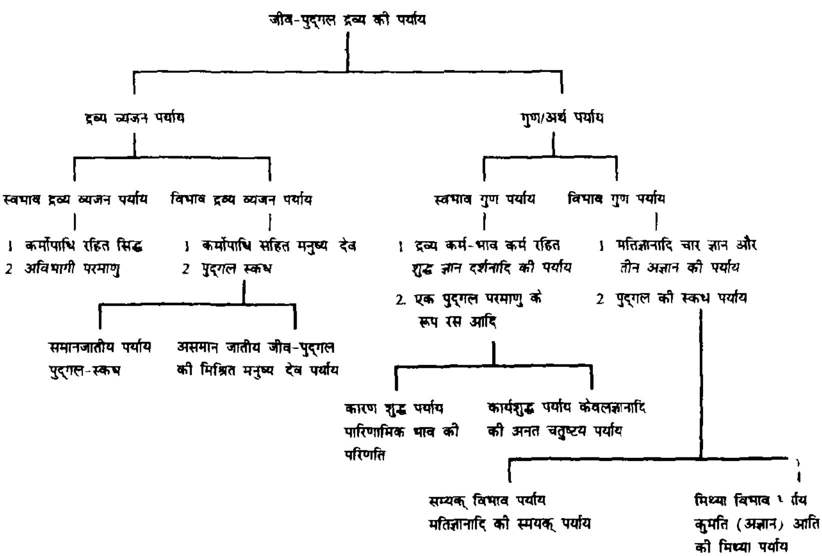
पर्यायों के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पर्याय-बुद्धि वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है। फिर इनके ज्ञान की क्या उपयोगिता है? त्रिपादत्मक द्रव्य, गुण और पर्याय में द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है जिसे कारण परमात्मा या कारण शुद्ध पर्याय कहा है। पदार्थो के सत् स्वरूप और उनकी स्वतंत्रता का ज्ञान कर आत्मा के द्रव्य स्वभाव रूप परमपारिणामिक भाव का आश्रय या स्व-सन्मुखतासे मति-श्रुत ज्ञानादि को सम्यक कर विशुद्ध परिणामों को पार कर शुद्धोपयोग द्वारा समस्त कर्मो का क्षय कर केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय रूप कार्य परमात्मा बना जा सकता है।

आचार्य कुन्द कुन्द ने त्रिपदात्मक द्रव्य के लक्षण के ज्ञान-अनुभव को सुफल मोहग्रंथि का क्षय होना बताया है। उन्हीं के शब्दों में—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं
सो जाणदि अप्पाणं मोहोखलु जादि तस्स लयं। (प्रवचनसार, 80)

अर्थ— जो वास्तव में अरहंत भगवान को द्रव्य रूप से, गुण रूप से ओर पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है। क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अंतर नहीं है। उसका मोह अवश्य लय (क्षय) को प्राप्त होता है। ऐसा जीव आत्मा के सम्यक् तत्व को उपलब्ध कर रागद्वेष को छोड़ता हुआ शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

सभी भव्य आत्माएँ जिनोपदिष्ट द्रव्य के त्रिलक्षणात्मक सत् स्वरूप एवं त्रिपदात्मक-स्वरूप को जानकर आत्मानुभव करें और त्रिरत्न रूप मोक्ष मार्ग द्वारा शुद्धात्मा के आश्रय से स्व-समय रूप शुद्धात्मा की प्राप्ति करें, यही मंगल भावना है। इसमें ही आत्मा के अभ्यूदय एवं निःश्रेयस पद की प्राप्ति सम्भव है। यही लोक कल्याण की मंगल भावना का सृजक है।



वी-369 ओ श्री एम. कालोनी
अमलाई, जिला-शहडोल (म.प्र.)
फोन : 07652-286268

कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता

—प्राचार्य (पं.) निहालचन्द जैन

जीवन दोनों तरफ फैला है—बाहर भी, भीतर भी। बाहर की खोज विज्ञान है और भीतर की खोज अध्यात्म-विज्ञान है। इसे वीतराग विज्ञान से भी संज्ञित किया जा सकता है। यदि बाहर का भौतिक विज्ञान दृश्य जीवन की जड़ है तो अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ जीवन का महकता फूल है। धर्म का मूल स्रोत अन्तर्ज्ञान-दृष्टि है और विज्ञान का मूल-बुद्धि/तर्क पर टिका है। अन्तर्दृष्टि-सर्वकालिक और शाश्वत होती है जबकि बुद्धि और तर्क-कारणों के बदल जाने से परिवर्तनशील है। इसलिए विज्ञान प्रयोगों के निष्कर्ष पर/अनुभव पर टिका है, जबकि धर्म अनुभूति पर। परन्तु दोनों का उद्‌गम-चैतन्य आत्मा है।

जैसे वायुयान, धरातल पर बनी हवाई-पट्टी पर गतिशील होकर आकाश में ऊपर उठता है, ऐसे ही जीवन का वायुयान विज्ञान की पट्टी पर गतिशील बनकर धर्म के उन्मुक्त आकाश में ऊर्ध्वशील होता है। अतः स्वस्थ-जीवन की दो आखें हैं : विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान-दोनों की रोशनी से ही समन्वय का दर्शन फलित होता है।

विज्ञान समृद्ध हुआ है। इक्कीसवीं शताब्दी सुपर कम्प्यूटर की धुरी पर घूमेगी। सूचनाओं की प्रोद्यौगिकी/ज्ञान कोष में वृद्धि होगी परन्तु यदि अध्यात्म अनुपस्थित रहा तो उसमें सद् दृष्टि का विवेक नहीं जुड़ पायेगा। याद रखें : विवेक रहित ज्ञान से संवदेनशील और सौन्दर्यपरक सृजन-शक्ति की बजाय ध्वंसात्मक शक्ति को ज्यादा बढ़ावा मिलेगा।

धर्म और विज्ञान की सहमैत्री-इक्कीसवीं शताब्दी के लिए शुभाशीष बने और इनकी व्याप्ति विस्तृत हो इस शोधालेख को इसी भाव से निहारा जा सके, तो कर्मसिद्धान्त की शाश्वतता को वैज्ञानिक-आँख से भी पढ़ा जा सकता है।

जैनदर्शन में कर्म की सिद्धि— प्रत्येक जीव मूलतः अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख

और शक्ति वाला है परन्तु जीव के ये मूल गुण वर्तमान में प्रगट नहीं है उसका कारण हमारे भाव-कर्म और द्रव्य कर्म की संतति है।

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण तच्छण्णे

(समयसारग गा. 67)

अनन्त चतुष्टय शक्ति वाले जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्षी द्रव्य कर्म भी अनन्त शक्ति सम्पन्न है। जैसा आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा–

मोहने संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव हिताहित को भूल कर मदमस्त हो जाता है, उसी प्रकार मोहकर्म रूपी मद्य से अपने मूल स्वरूप, शुद्ध रूप को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। जैसे मैल के प्रभाव से वस्त्र की शुभ्रता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार कर्मों की सत्ता के कारण जीव संसारी बना दुःख प्राप्त कर रहा है। मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय भाव के उदय से आत्मा मिथ्या दृष्टि, अज्ञानी और अचारित्री हो रहा है।

नास्ति कर्मफलच्छेताकाश्चिल्लोक मयोऽपि च।

(महाभारत)

तीन लोक में कोई ऐसा पुरुष नहीं जो कर्मों के फल को भोगे बिना उन्हें नष्ट कर सके। आंग्ल-भाषा में कहावत है–

"As we Sow, so we reap".

हम जो बीज बोते हैं उसी के फल की फसल काटते हैं।

जीव परिणाम हेदुं कम्मतं पुग्गला परिणमेति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं, तहवे जीवो वि परिणमदि।।

(समयसार गाथा 80)

जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य

कर्मरूप में बदल जाते हैं। अर्थात् भावों से द्रव्यकर्म आमंत्रित होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य कर्म का सहयोग पाकर जीव मिथ्यात्व और रागादि-भाव रूप परिणाम करता है। जैस पुरुष द्वारा ग्रहण किया आहार रस विपाकों द्वारा मांस, रुधिर, मज्जा, वीर्य आदि में रूपान्तरित हो जाता है, उसी प्रकार कर्म-स्कन्ध (समूह) भी जीवों में रागादि भावों को प्राप्त करके आठ स्वभांव वाले कर्मो में परिणमित हो जाता है।

कर्म का रसायनविज्ञान— कर्म का उदय जीव की स्वंतन्त्रता को बाधित करता है और इसे परतंत्र रखना चाहता है। जीव के पारिणामिक भाव और औदयिक भाव, दोनों का संघर्ष निरन्तर चालू है। उस संघर्ष ने जीव की चेतना को तीन भागों में विभाजित कर दिया :—

1. ज्ञान चेतना, 2. कर्म चेतना और 3. कर्मफल चेतना।

1. **ज्ञान चेतना** का काम है मात्र जानना। ऑख के सामने आई वस्तु का ज्ञान हो जाना ज्ञान चेतना है।
2. **कर्म चेतना**— इसका काम रागद्वेष उत्पन्न करना है। पॉचों इन्द्रियों के विषय हमारे सामने आते हैं, उसमें किसी के प्रति राग तो किसी दूसरे विषय के प्रति द्वेष, यह काम मोह का है या कहें कि कर्म चेतना का है।
3. **कर्मफल चेतना**— इसका काम सुख-दुखः की संवेदना पैदा करना है। इष्ट विषय में सुख का संवेदन और अनिष्ट से दुःख का संवेदन, यह कर्मफल चेतना का काम है।

मेडिकल साइन्स के अनुसार अनेक प्रकार की शारीरिक ग्रन्थियों के रसायन (chemicals) बनते हैं और रसों का स्राव होता है। कर्मशास्त्र के अनुसार कर्म का रसायन बनता है, जिसे कर्म का अनुभाग बंध कहते हैं। कर्म का रसविपाक, ग्रन्थितंत्र और नाड़ीतंत्र को प्रभावित करता है। कर्म उदय आया, विपाक हुआ और नाड़ी/ग्रन्थि तंत्र प्रभावित हो गया। रस बदला और विचार बदल जाते हैं। आचार/व्यवहार बदल जाता है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति यह जानता है कि अमुक काम बुरा है किन्तु जब कर्म का उदय

और विपाक काल आता है, तो उस व्यक्ति से वह काम जैसे कोई जबरन करवा देता है।

जब कर्म का विपाक आता है तो दो स्थितियां बनती हैं : (1) पुण्य कर्म का विपाक आया तो सुख मिलता है-प्रिय संवेदन होता है। धर्म के प्रति श्रद्धाभिभूत सम्यग्दृष्टि उस समय विचारता है कि मैं पुण्य का ऐसा भोग करूँ जिससे आगे वह पाप का कारण न बन जाये। वह सोचता है कि पुण्य से जो सुख-सुविधाएं/भोग प्राप्त हैं, इन्हें मैं नहीं भोगूंगा। वह कर्मो से हल्का होता हुआ निर्जरा को प्राप्त होता है। धर्म से विहीन व्यक्ति पुण्यकर्म के विपाक समय मिली सुख/सुविधाओं में इतना मग्न हो जाता है कि वह अपने हेय/उपादेय का ख्याल नहीं रखता जिससे वह आगामी कर्मो का बंध ही करता है।

(2) जब पाप कर्म का विपाक आता है तो व्यक्ति बेहाल हो जाता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा विचारता है कि मैंने अतीत में अशुभ कर्म किया जिसका यह दुःख रूप फल है अतः इसका भोक्ता क्यों बनूँ? ऐसा विचार कर वह समता भाव रखता है, जिससे नए पाप कर्म नहीं बांधता है।

उक्त दोनों स्थितियाँ तब बनतीं हैं जब ज्ञान चेतना जागती है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया (वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि)— कर्म का आस्रव, बंध तथा कर्म का संवर और निर्जरा, वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार से व्याख्यायित की जा सकती है।

कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता— पुद्गल द्रव्य (Physical matter) को 33 वर्गणाओं (Classifications) के अन्तर्गत रखा माना गया है। इनमें एक कार्मण वर्गणा भी है। जो जीव के विभाव परिणमन के अनुसार कर्मरूप बदलकर जीव/आत्मा के साथ संयुक्त हो जाते हैं। सम्पूर्ण लोकाकाश इन कार्मण रूप सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य से भरा हुआ है, जैसे सम्पूर्ण आकाश में विद्युत् चुम्बकीय तंरगें (Electro magnetic waves) व्याप्त हैं। कर्म-परमाणु के पुंज अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, तरंग रूप में गमन करते हुए माने जा सकते हैं। जिनकी कम्पंनाक (Frequencies) बहुत उच्चतम-X-Rays के कम्पनांक (10^{11} — 10^{17} Htz) की तुलना में असंख्य गुना ज्यादा होती है।

एक निश्चित कम्पन की वि. चु. तरंगों को रेडियो-रिसीवर द्वारा प्राप्त करने के लिए, उसमें एक ऐसे दोलित्र (Oscillator) का उपयोग करते हैं जो उस विशिष्ट कम्पन की तरंगों को पैदा कर रहा हो। उसे विद्युतीय साम्यावस्था का सिद्धान्त (Principal of Electrical Resonance) कहते हैं। इससे आकाश में व्याप्त वह विशेष कम्पन वाली तरंगें रिसीवर द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं। रिसीवर में यह संधारित्र-प्रणाली (Condenser) द्वारा सम्पन्न (Tunned) कर ली जाती है।

आत्म-प्रदेशों द्वारा कार्मण स्कन्धों की तरंगों को ग्रहण करने में यही प्रक्रिया होती है। कर्म उदय/विपाक के समय, आत्म-प्रदेशों में तीव्र कम्पन होते हैं, जिससे अशुद्ध भावों का सृजन होता है।

आत्मा प्रदेशों में यह कम्पन (Vibrations) मन, वाणी और शरीर के अंग-उपांग के परिस्पन्दन की सहायता से होता है, जिसे जैनदर्शन में "योग" संज्ञा से अभिहित किया गया।

यहाँ आत्म-प्रदेश दोलित्र (Oscillator) की भांति व्यवहार करता है। आत्म भावों के अनुरूप उत्पन्न तरंगें जिस तरंग लम्बाई (wavelength-) की होती हैं उन्हीं तरंग लम्बाई (A) वाली कर्म-वर्गणा की तरंगों को स्वतः आकाश से अपनी ओर आकर्षित कर ग्रहण कर लेता है (वि. साम्या. के सिद्धान्तानुसार) जिसे जैनदर्शन की भाषा में कहें कि भाव कर्मो से द्रव्यकर्मो का आना (आस्रव तत्त्व) होता है।

शंका-आत्म प्रदेशों में कम्पन क्यों होता है? कौन प्रेरक है?

समाधान-पूर्वबद्ध कर्म का जब विपाक समय आता है तो वे आत्म-प्रदेशों में कम्पन उत्पन्न करके विलग हो जाते हैं। कर्म विशेष का उदय/विपाक काल के समय यह परिस्पन्दन होता है। चूंकि प्रति समय कर्म का उदय होता है जिससे प्रति समय आत्म-प्रदेश-स्पन्दन भी होता रहता है और वे नवीन कर्मों को ग्रहण करने की भूमिका का निर्माण करते हैं।

आत्म प्रदेश और कर्म-परमाणुओं का यह संश्लेष, कर्मबंध है। इस कर्म बंध के दो काराक (Elements) हैं :

(1) भाव-मोह, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, काषायिक (क्रोध, लोभादि) आदि जीव के वैभाविक (अशुद्ध/विकृत) भाव हैं। जो आत्म प्रदेशों में (Self Oscillations) उत्पन्न करते हैं।

(2) द्रव्य बंध-नवीन कर्म-परमाणुओं का पूर्वबद्ध कर्मो के साथ या आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही रूप हो जाना द्रव्यबंधं है।

" **सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बंधः।।**

(तत्वार्थसूत्र 8-21)

कषाय सहित होने पर कार्मण स्कन्धों को ग्रहण करना बंध है विज्ञान की भाषा में कहें तो आत्म-प्रदेशों के कम्पन (Oscillation) तथा कार्मण तरंगों के कम्पन (Vibration/frequencies) का अध्यारोपण (Interference) होना बंध है।

जैन दर्शन में बंध का स्वरूप–

जोगा पयडि पएसा ठिदि अणुभागा कसायदो कुणदि।
अयरिणदुच्छिण्णेसु य बंध ठिदिकारणं णत्थि।।

(गो. कर्मकाण्ड-257-216)

संसारीजीव-योग से प्रकृति व प्रदेश बंध को करता है तथा कषाय से स्थिति एवं अनुभाग-बंध-करता है। जो जीव योग और कषाय से युक्त नहीं है, उनके कर्मबंध भी नहीं है। इस प्रकार कर्मबंध चार प्रकार का होता है :

1. **प्रकृति बंध**– कर्म की प्रकृति/स्वभाव को प्रकृति बंध कहा गया जो आठ प्रकार का है :

1. **ज्ञानावरणी कर्म**– जो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को ढक देता है जैसे भगवान की प्रतिमा के सामने वस्त्र रहने से उनका रूप ढ़क जाता है।
2. **दर्शनावरणी कर्म**– चेतना रूपी प्रकाश को आवृत करने वाला कर्म है जैसे द्वारपाल-राजा/मंत्री से मिलने नहीं देता।
3. **वेदनीय कर्म**– इन्द्रियों का अपने रूपादि विषयों का अनुभव करना वेदनीय है। उसमें साता/असाता रूप सुख/दुःख का जो कर्म वेदन

(अनुभव) कराते हैं वे वेदनीय कर्म है।

4. **मोहनीय कर्म**— जो जीव को मोहित करे। जो जीव के दर्शन गुण को मोहित करके उसे मिथ्यादृष्टि बनाता है, वह दर्शन मोहनीय है तथा जो जीव के चारित्र गुण को मोहित करके आत्मा के चारित्र गुण को प्रकट नहीं होने देता वह चारित्र मोहनीय है जैसे शराब के नशे में जीव अपने को भूल जाता है। यह सबसे शक्तिशाली कर्म है।
5. **आयुकर्म**— जिस कर्म के उदय से जीव नाना गतियों में जाता है/जाने के लिए मजबूर होता है।
6. **नानकर्म**— जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म संसार संरचना का काम करता है। शुभ नामकर्म से सुन्दर और अशुभ नाम कर्म से विकलांग कुरूपादि शरीर प्राप्त होते हैं।
7. **गोत्र कर्म**— जैसे कुम्भकार छोटे/बड़े घड़ों का निर्माण करता है, उसी प्रकार यह कर्म जीव को उच्च या नीच आचरण वाले गोत्र में प्रतिष्ठित करता है।
8. **अन्तराय**— जो दाता और पात्र आदि के बीच विघ्न उत्पन्न करा दे, जैस भण्डारी, राजादि के लिए दानादि में हस्तक्षेप का कारण बन जाता है उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीव को पराड्मुखी बना देता है। कर्मो की ये आठ प्रकृति, तरंग-सिद्धान्त से विभिन्न तरंग-दैर्ध्य (wave length) वाली या उनकी विशिष्ट बारंबारता (Freguencies) में हुआ करती हैं। अलग-अलग तरंग-दैर्ध्य की कार्मण तरंगें, अलग-अलग प्रकृति/स्वभाव वाली होती हैं जैसे भिन्न-भिन्न रंगों का प्रकाश भिन्न-भिन्न तरंग दैर्ध्य वाला होता है।

2. अनुभाग बंध

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभशुभकर्मणम्।
असावनुभवी ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः।।

पूर्व में कहे शुभ-अशुभ कर्मो का जो विपाक-रस है वह अनुभाग/अनुभव कहलाता है। जिस कर्म का जैसा नाम है, उसका वैसा ही अनुभव है।

'विपाकोऽनुभवः।' (तत्त्वार्थ 8/21) स यथानाम–(वही-8/22) उदय में आकर फल देने का अनुभव बंध कहते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र काल, भव और भाव की सापेक्षतापूर्वक तीव्र या मंदभाव रूप होता है।

3. प्रदेश बंध– तत्त्वार्थसूत्र 8-24 का निम्न सूत्र प्रदेशबंध के संबंध में 6 बातों का रहस्य खोलता है–

'नामप्रत्ययाःसर्वतोयोगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहे स्थिता सर्वात्म प्रदेशस्वानान्तानन्तः प्रदेशाः'

1. प्रदेशबंध किसके कारण है? (नाम प्रत्ययाः) ज्ञानावरणदि सभी कर्म प्रकृतियों के कारण।
2. वे कर्म प्रदेश कब, कहाँ बंधते हैं? (सर्वतः) सभी भावों में।
3. किस कारण से बंधते हैं? (योग विशेषता) मन वचन और काय के परिस्पन्दन रूप योग के कारण से बंधते हैं।
4. उन कर्मो का स्वभाव कैसा है? (सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहः) सूक्ष्मरूप हैं।
5. बंधने वाले कर्म किनको बांधते हैं? (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं को।
6. वे कर्म-स्कन्ध कितनी संख्या वाले हैं? (अनंतानंत प्रदेशाः) एक आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं और प्रत्येक प्रदेश में प्रति समय अनंतानंत प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध बंध रूप होते रहते हैं।

4. स्थिति बंध– प्रत्येक कर्म के बंधे रहने की काल-मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं। जैसे वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरणी व दर्शनावारणी के उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी मोहनीय की 70 कोड़कोड़ी नाम व गोत्र की 20 कोड़ाकोड़ी सागर। तथा आयु की 33 सागर की होती है। इसी प्रकार जघन्य स्थिति-वेदनीय की 12 मुहूर्त, नाम व गोत्र की 8 मुहूर्त तथा शेष समस्तकर्मो की अन्तमुहूर्त है। इस प्रकार जैनदर्शन में "कर्म" का वही स्थान है जो अन्य दर्शनों में ईश्वर का। कर्म की भूमिका ईश्वर के रूप में है जो जीवों के पर्यायों की सृष्टि, संरक्षण और संहार करता रहता है।